CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1212

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २३, अंक १
दिसम्बर - जनवरी - फरवरी २००२
भारतीय सौर मार्गशीर्ष-पौष-माघ शके १९२३

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलाहकार संपादक मण्डल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २०००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८०/-
एक प्रति का मूल्य		२५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्पादकीय

एक सूत्र है जिस का मूल उपनिषदों में पाया जाता है - आत्मानं विद्धि। आत्मा से किस वस्तु या विषय का निर्देश किया है या किया जा सकता है इसपर काफी बहस हो सकती है। आत्मा को हम कम से कम केवल खुद के अर्थ में लेकर विचार का आरंभ कर सकते हैं। अत: कहना है, अपने आप को जानो, अपने स्वरूप को पहचानो। जब हम अपनी ओर देखते हैं तब क्या हमारी दृष्टि साफ होती है ? किसकी दृष्टि से हम अपने को देखते हैं ? हम अपना एक चेहरा बनाते हैं, उसे अच्छी तरह से सँवारते हैं और थोडी दूरी पर खडे रहकर अपनी ओर देखते हैं। जो सँवारना किसी दृष्टि में लुभावना हो उसी तरह से हम अपने को सँवारते हैं और उसी दृष्टि से अपने को ताकते रहते हैं। जिस समाज का अंश बनकर हम जीते हैं उस समाज के अन्य सदस्यों की दृष्टि उधार लेकर भी अपने को देखते हैं। पहचान का मतलब लिया जाता है किसी ने किसी को पहचानना, किसी एक को किसी दूसरे ने अपनी नजर से पहचानना। इसी विधा का प्रयोग करते हुए हम अपनी पहचान के लिए अपनी ओर देखते हैं किसी और की दृष्टि से। किसी एक को जब किसी और की दृष्टि से देखा जाता है तब उस देखने के पीछे अपेक्षाबुद्धि होती है। खुद को पहचानने में भी जब अपेक्षाबुद्धि से देखा जाता है तब वह देखना साफ नहीं होता है। निरपेक्ष बुद्धि से अपने को देखने से शायद अपनी पहचान पायी जा सकती है।

एक व्यक्ति के रूप में अपने को जानना, पहचानना इस का मतलब है अपनी सामर्थ्य और कमजोरियों को देखना, उन के कारण ढूँढना और उन्हें संतुलित बनाने के लिए उपाय खोजना। हमारी कमजोरी होती है कि हम अपने को कमजोर मानते हैं। हमारी शक्तियाँ सुप्त एवं प्रकट रूप में होती है। सुप्त शक्तियों को जागृत करके प्रकट करना और कार्यान्वित करना हमारा उद्देश्य हो। प्राय: हम अपनी सामर्थ्य को जानते नहीं हैं। हममे क्या सुप्त है और किस तरह उसे जगाना है इस बात को भी पहचानते नहीं हैं। फलत: हम अपने को कमजोर मान बैठते हैं। कमजोरी को पूरा करने के लिए बाह्य आधार का अवलंबन किया जाता है। यहीं हम खुदका नियंत्रण तथा स्वातंत्र्य खो बैठते हैं। जब बाह्य आधार पर निर्भर करना होता है तब उस आधार से हमारा जीवन नियंत्रित होने लगता है। इस से हमारी आंतरिक शांति में धक्का पहुँचता है व्यक्तित्व असंतुलित बनता है और हमारा बर्ताव अपने तथा अन्यों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के लिए भी समस्या बन बैठते हैं। असंतुलित एवं अशांत मनुष्य क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर, मद, लोभ आदि विकारों के वश होकर समाज में समस्याएँ पैदा करते चला जाता है। केवल खुद के क्रोधादि दोष देखने से खुद की पहचान नहीं बनेगी, किन शक्तियों के सुप्त रहने से कमजोरी की हालत पैदा हुई है इसे ठीक तरह से समझना जरूरी है। जब कोई मनुष्य दूसरे पर आघात करता है, चाहे वह आलोचक हो या आतंकवादी, उसकी इस प्रेरणा का मूल उसकी अपनी कमजोरी में है जिसे वह न देख पाता है न पहचान पाता है। अतः इन समस्याओं का हल ढूँढने के लिए हमें जाना होगा उसी स्रोत के पास जो हमें जाग्रत करके बताता है, आत्मानं विद्धि।

-सुभाषचन्द्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस [1]

"आधुनिक विद्वद्समाज, विशेषकर कला, मानविकी और समाजशास्त्र के अध्येता, प्रख्यात दार्शनिक लुडविग विटगेन्स्टाइन और उनकी कृति *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* से भली-भाँति परिचित न हों, यह कतई संभव नहीं है। लुडविग विटगेन्स्टाइन बीसवीं सदी के इतके प्रभावशाली दार्शनिक हैं कि उनके चिन्तन ने पूरी दुनिया की सोच को एक नई दिशा दी है। दार्शनिकों का *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* में प्रतिपादित सिद्धान्तों से मतभेद तो हो सकता है परन्तु उनके लिए उसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं।..."[2] भारत में विटगेन्स्टाइन दर्शन के विद्वान प्रो. अशोक वोहरा के ये उद्गार, कतिपय दार्शनिकों को अतिरंजित भले ही प्रतीत होते हों, परन्तु यह सच है कि अपने जीवन काल में ही 'प्लेटो' जैसी ख्याति प्राप्त करने वाले विटगेन्स्टाइन[3] समकालीन पाश्चात्य दर्शन के मूर्धन्य दार्शनिकों में स्थान रखते हैं। दर्शनशास्त्र में उनके स्थान की तुलना जीवविज्ञान में डार्विन और भौतिकी में आइन्स्टीन के स्थानों से की जाती है।[4]

वर्ष १९२९ में, केम्ब्रिज वापसी के बाद, विटगेन्स्टाइन ने जब पुनः दार्शनिक चिन्तन में रुचि लेना शुरू किया तब उनको अपने पूर्ववर्ती विचारों की त्रुटियों की अनुभूति हुई। इस अनुभूति में ही *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* का बीजारोपण हुआ। विटगेन्स्टाइन ने इस पुस्तक के प्राक्कथन में यह स्वीकार किया है कि यह पुस्तक *ट्रैक्टेटस* की भूलों की अनुभूति का परिणाम है। इसके लिए विटगेन्स्टाइन ने फैक रैमसे और पी. स्राफा की आलोचनाओं का आभार व्यक्त किया है।

पी. आई. का प्राक्कथन जनवरी १९४९ में लिखने के बाद विटगेन्स्टाइन ने इसके प्रकाशन का मन बना लिया था। वह इस पुस्तक के प्राक्कथन में यह स्वीकार करते हैं, "मैं चाहता था कि मैं एक अच्छी पुस्तक लिखूँ। किन्तु ऐसा नहीं हुआ और अब इसे सुधारने का समय निकल चुका है।" उनकी उपर्युक्त स्वीकृति और प्राक्कथन में ही उनके कथन, "इस अन्धे युग में यह असम्भव तो नहीं कि इस तुच्छ पुस्तक के भाग्य में किसी के मन-मस्तिष्क

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को आलोकित करना लिखा हो - किन्तु सम्भवतः ऐसा होगा नहीं'' से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रकाशन को लेकर उनके मन में हिचकिचाहट मौजूद थी। शायद इसी हिचकिचाहट के कारण उन्होंने इसका प्रकाशन अपनी मृत्यु के बाद होने के लिए छोड दिया। जार्ज एच. वॉन् रिट के अनुसार, विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* के बाद दार्शनिक विचारों का प्रकाशन इसलिए नहीं कराया क्योंकि उनको ऐसा महसूस होता था कि वह किसी अन्य सभ्यता और काल के लोगों के लिए लिख रहे हैं। रिट के इन विचारों में सत्यता झलकती है क्योंकि *ट्रैक्टेटस* के बांद विटगेन्स्टाइन ने अपने पूरे जीवनकाल में केवल एक निबन्ध 'सम रिर्माक्स आन लॉजिकल फार्म' तथा एक निबन्ध समीक्षा का ही प्रकाशन कराया था। इनके अतिरिक्त विटगेन्स्टाइन की समस्त कृतियों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद हुआ। *पी. आई.* का प्रकाशन भी उनकी मृत्यु के पश्चात् १९५३ में हुआ।

ट्रैक्टेटस की तरह ही *पी. आई.* के विचार भी दुर्बोध और जटिल हैं। परन्तु दोनों की पद्धतियों में भिन्नता है। *ट्रैक्टेटस* की पद्धति सूत्रात्मक है और *पी. आई.* टिप्पणियों के रूप में अनुच्छेदों मैं विभक्त है। *पी. आई.* दो भागों में विभक्त है। इसका भाग I जैसा कि परम्परागत रूप से पुस्तकें शीर्षकों में विभक्त होती हैं, शीर्षकों में विभक्त न होकर, अनुच्छेदों में विभक्त है। इसमें ६९३ अनुच्छेद हैं। विटगेन्स्टाइन ने इस भाग को १९४५ तक पूरा कर लिया था परन्तु वह इसके अन्तिम तीस पृष्ठों की सामग्री से संतुष्ट नहीं थे। विशेष रूप से वह इन अनुच्छेदों की क्रमबद्धता से संतुष्ट न थे। उनका उद्देश्य इनका ऐसा क्रम निर्धारित करना था जिससे कि इनमें विचारों का प्रवाह स्वतः प्रस्फुरित होता हुआ प्रतीत हो। इस पुस्तक के भाग II के १४ अनुभाग हैं, जिन्हें उन्होंने १९४७ और १९४९ के बीच लिखा। प्रथम दृष्ट्या अध्ययन से यह ज्ञात नहीं होता है कि इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से क्या है। परन्तु वस्तुतः यह पुस्तक जितनी छिन्न-भिन्न प्रतीत होती है उतनी है नहीं। इसमें युक्तियों के समूह हैं तथा इन युक्तियों को जोडने वाली ऐसी अनभिव्यक्त कडियाँ हैं जो युक्तियों के समूहों में क्रमबद्धता बनाए रखती हैं।

इस पुस्तक के दार्शनिक विचार एक दूसरे से असम्पृक्त और इस प्रकार गुत्थम-गुत्था हैं कि बिना किसी पूर्वावधान के स्पष्ट रूप से यह कहना कि इसमें अमुक दार्शनिक विचार (उदाहरण के लिए अर्थ-निर्धारण का विचार) अमुक-अमुक अनुच्छेंदो में है इत्यादि वस्तुतः न्यायसंगत नहीं होगा। फिर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी, अनुच्छेदों के आधार पर *पी. आई.* के भाग I का विभाजन प्रायः दार्शनिक इसलिए करते हैं क्योंकि विचारों में असम्पृक्तता के बावजूद इसमें एक क्रमबद्धता स्पष्ट रूप से झलकती है, और विभाजन से इसके अध्ययन में सुविधा होती है। विषय-वस्तु के आधार पर इसके विभिन्न अनुच्छेदों के विभाजन के विषय में दार्शनिकों में सहमति के अभाव के बावजूद इसका निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता है :[६]

अनुच्छेद १-६४ : 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचना (मुख्य रूप से *ट्रैक्टेटस* और रसेल के तार्किक अणुवाद की आलोचना)।

अनुच्छेद ६५-८८ : *ट्रैक्टेटस* और फ्रेगे के अर्थ-निर्धारण सम्बन्धी विचारों की आलोचना ।

अनुच्छेद ८९-१३३ : दर्शनशास्त्र की प्रकृति, और तर्कशास्त्र की आदर्शभाषा की तलाश।

अनुच्छेद १३४-१४२ : प्रतिज्ञप्ति का सामान्य आकार और सत्य की प्रकृति।

अनुच्छेद १४३-१८४ : भाषायी बुद्धि।

अनुच्छेद १८५-२४२ : 'नियम का पालन' और भाषायी ढाँचा।

अनुच्छेद २४३-३१५ : निजी अनुभव और भाषा सम्बन्धित विचार।

अनुच्छेद ३१६-३६२ : विचार और सोचना।

अनुच्छेद ३६३-३९७ : कल्पना और मानसिक प्रतिबिम्ब।

अनुच्छेद ३९८-४११ : आत्मा की प्रकृति और 'मैं' पर विचार।

अनुच्छेद ४१२-४२७ : चेतना।

अनुच्छेद ४२८-४६५ : भाषा और सत्ता के बीच सम्बन्ध।

अनुच्छेद ४६६-४९० : आगमन और आनुभविक विश्वासों का सत्यापन।

अनुच्छेद ४९१-५४६ : व्याकरण और अभिप्राय (सेन्स) की सीमा।

अनुच्छेद ५४७-५८० : तादात्म्य और भाषायी अर्थ की विविधता ।

अनुच्छेद ५७१-६१० : मानसिक स्थितियाँ और प्रक्रिया, प्रत्याशा और विश्वास।

अनुच्छेद ६११-६२८ : मानवीय संकल्प।

अनुच्छेद ६२९-६६० : अभिप्रेत होना (इन्टेन्डिग)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुच्छेद ६६१-६९३ : अर्थ-निर्धारण।

अनुच्छेदों पर आधारित विभाजन के साथ-साथ, इस पुस्तक को दार्शनिक विचारों के आधार पर मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

(I) भाषा का अर्थ-सिद्धान्त, 'भाषा का प्रयोग सिद्धान्त, 'भाषा-खेल' और 'जीवन का आकार'

(II) दर्शनशास्त्र की प्रकृति

(III) मन-दर्शन

इस लेख की परिसीमा को ध्यान में रखते हुए इसमें उपर्युक्त प्रथम दो भागों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। विटगेन्स्टाइन के मन-दर्शन के विहंगम परिदृश्य को देखते हुए मेरा विचार है कि इसके लिए एक और स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता होगी।

(I)

विटगेन्स्टाइन दर्शन में भाषायी अर्थ के सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। *पी. आई.* का 'भाषा का अर्थ-सिद्धान्त' *ट्रैक्टेटस* और रसेल के 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचनाओं का परिणाम है। *ट्रैक्टेटस* और रसेल के 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' के स्थान पर *पी. आई.* में विटगेन्स्टाइन ने 'भाषा का प्रयोग सिद्धान्त' की स्थापना की। इसके अनुसार किसी भी शब्द या वाक्य के अर्थ का निर्धारण उस शब्द या वाक्य के प्रयोग के द्वारा होता है। इस सिद्धान्त ने, 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की मान्यता 'किसी शब्द का अर्थ वह वस्तु होता है जिसके लिए वह शब्द प्रयुक्त होता है', को अस्वीकार कर दिया।

'भाषा का चित्र सिद्धान्त' के अनुसार भाषा का सार इस चित्रण में निहित होता है कि वस्तुओं और घटनाओं की प्रकृति क्या है। इसके अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यों का चित्र होती हैं। जब कोई प्रतिज्ञप्ति किसी तथ्य का चित्र प्रस्तुत करती है तब वह सत्य होती है और जब वह तथ्य का चित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं होती है तब वह असत्य होती है। यह सिद्धान्त इस बात को भी स्वीकार करता है कि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता और असत्यता का इसकी अर्थपूर्णता से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। कोई प्रतिज्ञप्ति असत्य होते हुए भी अर्थपूर्ण हो सकती है। इसके अनुसार सभी अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियाँ, आधारभूत प्रतिज्ञप्तियों का फलन होती हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पी. आई. में सर्वप्रथम विटगेन्स्टाइन 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचना करते हैं। इसके लिए वह इस पुस्तक की शुरुआत सेंट आगस्टाइन की पुस्तक कन्फेशन्स के एक उद्धरण से करते हैं, जो निम्न-प्रकार है :

'जब मेरे अग्रज किसी वस्तु का नाम पुकार कर उस वस्तु की ओर चले तो मैंने यह देखा और समझ गया कि उस वस्तु को उस ध्वनि से जाना जाता है जिसे उन्होंने उस वस्तु को इंगित करने के लिए उच्चारित किया। उनकी शारीरिक गतिविधियोंसे, जैसे की चेहरे के हाव-भाव, आँखों का संचालन, शरीर के दूसरे अंगो की हरकतें और उनके स्वर के आरोह-अवरोह - उनके आशय का पता चलता है। इन भंगिमाओं गतिविधियों से हमारी मानसिक अवस्था, जैसे कि किसी वस्तु को खोजने की, उसके मिल जाने की, उसे नकारने की या फिर उससे बचे रहने की, भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जब मैंने बार-बार शब्दों को उनके उचित स्थानों पर विविध वाक्यों में प्रयुक्त होते हुए सुना तो मैं शनैः-शनैः सीख गया कि वे किन वस्तुओं के प्रतीक हैं, और जब मैंने अपने मुँह से वैसी ध्वनि निकालना सीख लिया तो मैं भी उनका प्रयोग अपनी इच्छा को व्यक्त करने के लिए करने गला।'' (आगस्टीन, *कन्फेशस*, १.८)

प्रश्न उठता है कि विटगेन्स्टाइन उपर्युक्त उद्धरण से ही *पी. आई.* की शुरुआत क्यों करते हैं? स्टैनली कावेल के अनुसार, ''मैंने आगस्टाइन के कन्फेशन्स को *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* को पढने से पहले पढा था और मुझे याद है कि मुझे आगस्टाइन के 'काल' से सम्बन्धित विचारों के बारे में जिज्ञासा हुयी थी परन्तु मुझे उनके उन अनुच्छेदों पर जिज्ञासा नहीं हुयी थी जो भाषा को सीखने से सम्बन्धित हैं। इसलिए यदि उन (भाषा से सम्बन्धित) शब्दों में कुछ ध्यान देने योग्य है तो यह तथ्य स्वयं ध्यान देने योग्य है। मानो यह बताता है : कोई पहले से ही नहीं जानता कि, जब किसी ने सोचना बन्द कर दिया है, कहाँ पर दार्शनिक चिन्तन को शुरुआत हो जाए।''[७] वस्तुतः विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* की शुरुआत *कन्फेशन्स* के उपर्युक्त अनुच्छेद से इसलिए की क्योंकि उनके अनुसार 'यह मानवीय भाषा के सार का एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत करता हैं।' इसके अनुच्छेद २ के अनुसार यह अर्थ के सम्प्रत्यय का दार्शनिक विवरण प्रस्तुत करता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार आगस्टीन के उद्धरण से अर्थ के सम्प्रत्ययं के जिन पहलुओं पर प्रकाश पडता है और जो परम्परागत रूप से दर्शनशास्त्र में स्थापित है, इस प्रकार हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(क) प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है।
(ख) शब्द नाम हैं अर्थात् शब्द वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं।
(ग) किसी भी शब्द का अर्थ वह वस्तु है जिसके लिए वह प्रयुक्त होता है।
(च) वाक्य नामों के समुच्चय हैं।
(घ) शब्द (नाम) और अर्थ (वस्तु) के बीच सम्बन्ध निदर्शनात्मक परिभाषा (*ओस्टेन्सिव डेफिनीशन*) के द्वारा निर्धारित होता है।

आगस्टीन का उपर्युक्त विचार यह व्यक्त करता है कि निदर्शनात्मक परिभाषा, भाषा में अर्थ-निर्धारण का आधारभूत सिद्धान्त है। विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* के अनुच्छेदों १-६४ में इस 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचना की है जिसके प्रमुख विचार-बिन्दु निम्न प्रकार हैं :

(१) यह सत्य नहीं है कि भाषायी अभिव्यक्ति में प्रत्येक शब्द का कोई- न-कोई अर्थ होता है। उदाहरण के लिए, उपसर्ग, हलन्त, 'यदि', 'और', 'तो' जैसे संयोजक किसी वस्तु को इंगित नहीं करते हैं। 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' भाषा के सीमित अर्थ को ध्यान में रखता है। यह संज्ञाओं के उचित प्रयोग का सिद्धान्त हो सकता है। परन्तु यह क्रिया, विशेषण, सम्बोधन, संयोजक इत्यादि के प्रयोगों पर ध्यान नहीं देता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार, 'नितान्त भिन्न कार्यों वाले केवल विस्मयादि बोधकों के सम्बन्ध में विचार कीजिए :

जल !
परे !
ओ !
बचाओ !
ठीक !
नहीं !

क्या अब भी आप इन शब्दों को 'विषयों के नाम' कहना चाहेंगे ? (*पी. आई.* अनुच्छेद २७)

२) भाषा का अर्थ केवल किसी तथ्य का विवरण देना नहीं होता है। भाषा कई प्रकार से प्रयोग में आती है। भाषा के प्रयोग की इस विविधता को विटगेन्स्टाइन 'भाषा-खेल' कहते हैं। वह 'भाषा-खेलों' की इस अनेकता का वर्णन *पी. आई.* अनुच्छेद २३ में निम्न-प्रकार से करते हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"आदेश देना, और उनका पालन करना-
किसी वस्तु का विवरण देना, या उसकी नाप देना-
किसी वस्तु को उसके विवरण से (ड्राइंग से) बनाना-
किसी घटना का वर्णन करना-
किसी घटना के बारे में अनुमान करना-
किसी प्राकल्पना की रचना और उसकी परीक्षा करना-
किसी प्रयोग के परिणामों को सारणियों तथा रेखाचित्रों में प्रस्तुत करना-
कोई कहानी बनाना; और उसे सुनाना-
अभिनय करना-
अन्त्याक्षरी करना-
पहेलियाँ बुझाना-
व्यावहारिक गणित के सवाल हल करना-
एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना-
माँगना, धन्यवाद देना, बुरा-भला कहना, अभिवादन करना, प्रार्थना करना।"

विटगेन्स्टाइन के अनुसार 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के भाषा-खेलों की व्याख्या करने में असफल ही रहता है।

इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद है कि विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* में चित्र-सिद्धान्त को पूरी तरह से छोड दिया या कि वह इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करते रहे। जहाँ तक चित्र-सिद्धान्त की इस मान्यता की बात है कि 'प्रतिज्ञप्ति और जिसे प्रतिज्ञप्ति चित्रित करती है, के बीच कुछ उभयनिष्ठ होता हैं और इस उभयनिष्ठता के कारण यह दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं'; विटगेन्स्टाइन ने इस उभयनिष्ठता को *पी. आई.* के अनुच्छेद ५१९-५२१ में भी माना है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि चित्र-सिद्धान्त को विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* में उस रूप में स्वीकार नहीं किया जैसा कि उन्होंने इसका वर्णन *ट्रैक्टेटस* में किया था।

ट्रैक्टेटस के 'भाषा का चित्र सिद्धांत' के स्थान पर विटगेन्स्टाइन ने *पी.आई.* में 'भाषा का प्रयोग सिद्धान्त' को प्रस्तुत किया। *पी. आई.* के अनुसार किसी भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण उस वस्तु के द्वारा नहीं होता जिसके लिए वह अभिव्यक्ति प्रयुक्त होती है। कोई अभिव्यक्ति किसी वस्तु के बारे में होने के कारण अर्थपूर्ण नहीं होती है। बल्कि वह नियम-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधारित प्रयोग के कारण अर्थपूर्ण होती है। किसी भी अभिव्यक्ति की अर्थपूर्णता इस बात पर निर्भर करती है कि वह पहले से ही चलन या प्रयोग में है या नहीं। किसी अभिव्यक्ति का अर्थ-विशेष उस अभिव्यक्ति के प्रयोग विशेष पर निर्भर होता है। *पी. आई.* के अनुच्छेद ४३ के अनुसार, 'किसी भी शब्द का अर्थ तो भाषा में उसका प्रयोग है।' हम किसी शब्द का अर्थ उस शब्द के प्रयोग के द्वारा सीखते हैं। जिस प्रकार हम शतरंज को खेलकर सीखते हैं न कि इसके मोहरों के नामों को जानकर, उसी प्रकार भाषा में शब्दों का प्रयोग हमें उनके अर्थ को सिखाता है। किसी भी अभिव्यक्ति के अर्थ की व्याख्या इसके प्रयोग की व्याख्या के द्वारा होती है।

किसी अभिव्यक्ति के प्रयोग में होने और इसके अर्थ के बारे में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसका प्रयोग ही उसके अर्थ को निर्धारित करता है न कि उसका अर्थ उसके प्रयोग को। किसी अभिव्यक्ति के अर्थपूर्ण होने के लिए यह तो आवश्यक है कि वह प्रयोग में आती हो परन्तु उसका प्रयोग में आना इस बात की गारंटी नहीं देता है कि उसका कोई न कोई अर्थ भी हो। इसीलिए ऐसा संभव है कि कोई अभिव्यक्ति चलन में तो हो परन्तु उसका कोई अर्थ ही न हो। उदाहरण के लिए, हिन्दी सिनेमागीतों में अनेक शब्दों का प्रयोग बिना किसी अर्थ के होता है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* के अनुच्छेद २८९ में कहा है 'शब्द को बिना किसी औचित्य के प्रयोग करने का यह अर्थ नहीं होता कि हमें उसके प्रयोग का अधिकार नहीं है।' इससे यह साबित होता है कि किसी भाषायी अभिव्यक्ति के प्रयोग का क्षेत्रार्थ इसके अर्थ के क्षेत्रार्थ से अधिक व्यापक होता है।

किसी भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थनिर्धारण में उसके 'भाषा-खेल' अर्थात् नियम आधारित भाषायी प्रयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। किसी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण 'भाषा-खेल' के सन्दर्भ में ही होता है। 'भाषा-खेल' से परे प्रयोग के द्वारा कोई अभिव्यक्ति अर्थविहीन हो जाती है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन भाषा को 'नियम आधारित क्रिया' मानते हैं। इस सन्दर्भ में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :

(१) जिस प्रकार किसी भी खेल के कुछ नियम होते हैं उसी प्रकार भाषा व्याकरण के नियमों पर आधारित होती है।

(२) किसी भी शब्द का अर्थ, 'नियम आधारित प्रयोग' के द्वारा निर्धारित होता है जिसे विटगेन्स्टाइन 'भाषा-खेल' कहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) भाषायी अभिव्यक्ति, भाषा रूपी खेल में नियमबद्ध तरीके से किसी न किसी 'जीवन के आकार' अर्थात् संस्कृति में प्रयोग में आती है।

इस प्रकार, विटगेन्स्टाइन के अनुसार 'भाषा-खेल', 'जीवन के आकार' पर आधारित होता है। 'जीवन के आकार' का अर्थ है : भाषायी समुदाय की सभी क्रियाएँ व आदतें अर्थात् संस्कृति।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार कोई भी भाषायी अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट 'भाषा-खेल' एवं विशिष्ट अभाषायी क्रियाओं के सन्दर्भ में ही अर्थपूर्वक प्रयुक्त होती है। इसीलिए उस अभिव्यक्ति के अर्थ निर्धारण के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह किसी सन्दर्भ अर्थात् 'जीवन के आकार' में प्रयुक्त हुयी है। वह *पी. आई.* के अनुच्छेद १९ में कहते हैं, "किसी भाषा की कल्पना करने का अर्थ तो एक जीवन-शैली की कल्पना करना है।" 'जीवन का आकार' वह संस्कृति है जिसमें वह विशिष्ट 'भाषा-खेल' घटित होता है। इस प्रकार 'जीवन का आकार' 'भाषा-खेल' का आधार है। वस्तुतः 'जीवन का आकार' भाषा का आधार है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक है कि जिस प्रकार 'भाषा-खेल' विविध प्रकार के होते हैं उसी प्रकार 'जीवन के आकारों' में भी विविधता पाई जाती है।

संक्षेप में, किसी भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण उसके प्रयोग, 'भाषा-खेल', तथा उसके 'जीवन के आधार' की प्रकृति के द्वारा होता है।

(II)

के. टी. फैन के अनुसार, यदि परम्परागत पाश्चात्य दर्शन को विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है तो विटगेन्स्टाइन के दर्शन को 'इन प्रश्नों पर ही क्रमबद्ध रूप से प्रश्न' के रूप में लिया जा सकता है।[८] विटगेन्स्टाइन के दर्शन को पारम्परिक पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के 'प्रश्नों पर ही प्रश्न' के रूप में इसलिए लिया जा सकता है क्योंकि विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ हमारे गलत ढंग से सोचने के कारण ही उत्पन्न होती हैं। दर्शनशास्त्र का प्रमुख कार्य इस प्रकार की सोच को बदलना है। वह कहते हैं, "दर्शनशास्त्र हमारी सोच की ऐसी गाँठों को खोलती है जिन्हें हमने मूर्खतापूर्वक बना रखा है; परन्तु ऐसा करने के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमें गति करना है जो कि उतनी ही उलझी हुयी है जितनी कि गाँठे। यदपि दर्शनशास्त्र का परिणाम सामान्य है; इसकी पद्धति, यदि इसे उस *परिणाम* को प्राप्त करना है, (सामान्य) नहीं हो सकती है। दर्शनशास्त्र की उलझन इसकी विषय-वस्तु में नहीं बल्कि हमारी गाँठयुक्त बुद्धि में होती है।[९]

हमारी बुद्धि के भ्रमित होने का कारण भाषा की अस्पष्टता है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन ने यह माना है कि "दर्शनशास्त्र, भाषा द्वारा हमारी बुद्धि के वशीकरण के विरुद्ध संघर्ष है।" (*पी. आई.* अनुच्छेद १०९) इस वशीकरण के कारण या तो भाषा का गलत प्रयोग होता है या सन्दर्भ से परे भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण करना मुश्किल हो जाता है। दर्शन में विविध प्रकार की तत्त्वमीमांसीय समस्याओं का रूप यही है। इन समस्याओं की प्रकृति के बारे में दार्शनिकों में मतैक्य का अभाव इसलिए रहा है क्योंकि तत्त्वमीमांसीय अभिव्यक्तियों को उनके सन्दर्भ से बाहर जाकर समझने पर ऐसा होना स्वाभाविक है।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक भ्रांतियाँ हमारी आदतों में कुछ इस तरह रच-बस गयी हैं कि हमें इनका पता ही नहीं चल पाता। वह *पी. आई.* के अनुच्छेद १२९ में कहते हैं, "हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषयों के पहलू अपनी सरलता एवं अंतरंगता के कारण हमसे छुपे होते हैं। (हम किसी वस्तु पर ध्यान देने में असमर्थ होते हैं — क्योंकि वह सदैव हमारी आँखों के सामने रहती है।) मनुष्य को अपनी जाँच का वास्तविक आधार तो सूझता ही नहीं जब तक कि इस तथ्य ने उसे आकर्षित न किया हो।— और इसका अर्थ है : हमें एक बार समझ आ जाने पर जो विषय सर्वाधिक आकर्षक एवं सर्वाधिक प्रभावकारी है उससे आकृष्ट होने में साधारणतः हम असफल रहते हैं।" नई और विचित्र वस्तुएँ हमारी निगाह में शीघ्र आ जाती हैं। परन्तु रोजमर्रा की वस्तुएँ, ऐसी वस्तुएँ जिनके हम आदी हो चुके होते हैं, निगाह में आकर भी हमसे छिपी रहती हैं। इसी प्रकार, जों भ्रांतियाँ दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करती हैं वे हमारे विचारों से अदृश्य किन्तु अन्त रूप से जुडी होती हैं। ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है कि इन भ्रांतियों को हम इसलिए नहीं जान पाते कि वे हमसे छिपी होती हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि हमें इनकी आदत पड चुकी होती है।

विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* के प्राक्कथन में यह स्वीकार किया है कि वह *पी. आई.* को एक ऐसी पुस्तक के रूप में लिखता चाहते थे जिसके एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ओर *ट्रैक्टेटस* और दूसरी ओर *पी. आई.* के विचार हो। इस सन्दर्भ में *ट्रैक्टेटस* और *पी. आई.* के 'दर्शनशास्त्र के सम्प्रत्यय' के तुलनात्मक अध्ययन से विटगेन्स्टाइन के *पी. आई.* के 'दर्शनशास्त्र के सम्प्रत्यय' के आसानी से समझा जा सकता है।

पी. आई. के दर्शन का सम्प्रत्यय *ट्रैक्टेटस* के दर्शन के सम्प्रत्यय से भिन्न है। *ट्रैक्टेटस* के प्राक्कथन के अनुसार, "यह पुस्तक दर्शनशास्त्र की समस्याओं से सम्बन्धित है। यह दर्शाती है कि इन समस्याओं की उत्पत्ति भाषा का तर्कशास्त्र गलत ढंग से समझे जाने के कारण होती है।" यही विचार वह *ट्रैक्टेटस* (४.००३) में व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ उसी प्रकार की होती हैं होती हैं जैसे 'क्या शुभ सुन्दर से अधिक तादात्म्य (आइडेन्टिकल) है?' वह *ट्रैक्टेटस* (४.००३१) में भी दर्शनशास्त्र को 'भाषा की मीमांसा' कहते हैं। *ट्रैक्टेटस* (६.५३) के अनुसार दर्शनशास्त्र की वही विधि उपयुक्त होगी जो 'कथनीय' अर्थात् 'प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहती। इस प्रकार, *ट्रैक्टेटस* में दर्शनशास्त्र का उद्देश्य, तथ्य की सही व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यहाँ प्रतिज्ञप्ति को तथ्य का चित्र माना गया है। इसमें प्रतिज्ञप्ति के उपयुक्त आकार का विचार प्रतिज्ञप्ति के द्वारा किसी तथ्य को चित्रित करने के विचार से जुडा हुआ है। इसके अनुसार, तथ्य की सही व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि कथन या प्रतिज्ञप्ति के तार्किक आकार की तथ्य के तार्किक आकार से संवादिता हो। दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति इस संवादिता के न होने के कारण होती है। दर्शनशास्त्र का उद्देश्य प्रतिज्ञप्ति के 'आभासित तार्किक आकार', जो कि असंवादिता और अन्ततः दार्शनिक समस्याओं का कारण होती है, की कृतिमता को स्पष्ट करना और 'उपयुक्त तार्किक आकार' की स्थापना करना है।

पी. आई. में विटगेन्स्टाइन ने 'तार्किक आकार' के विचार को छोड दिया। यहाँ पर जब चित्रित करने के लिए किसी तथ्य का कोई 'तार्किक आकार नहीं' है, तब प्रतिज्ञप्ति के आकार की उपयुक्तता को स्थापित करने के लिए किसी मापदण्ड की भी आवश्यकता नहीं। दूसरे शब्दों में 'उपयुक्त आकार' के विचार की कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार सभी कथन, 'जिस रूप में वे हैं उसी रूप में', किसी न किसी व्यवस्था के अन्तर्गत हैं। *पी. आई.* के अनुच्छेद ९८ के अनुसार "एक ओर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो यह स्पष्ट है कि हमारी भाषा का प्रत्येक वाक्य '-जैसे भी है ठीक है।' याने हम किसी आदर्श के पीछे नहीं पडे हैं, मानों हमारे साधारण अस्पष्ट वाक्यों को अभी पूर्णतः असाधारण अर्थ नहीं मिले हों और किसी परिपूर्ण भाषा को हमारे द्वारा रचे जाने की प्रतीक्षा हो। दूसरी ओर, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ अर्थ होता है वहाँ परिपूर्ण व्यवस्था होती है। अतः अत्यन्त अस्पष्ट कथनों में भी परिपूर्ण व्यवस्था होती है।'' इसका तात्पर्य यह है कि *ट्रैक्टेटस* के विपरीत *पी. आई.* में किसी आदर्श भाषा के आविष्कार की कोई आवश्यकता नहीं। दार्शनिकों का कार्य प्रतिज्ञप्ति को सही करना नहीं बल्कि उसे समझना है। किसी भाषा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि उसकी प्रतिज्ञप्तियाँ क्या चित्रित करती हैं, बल्कि यह जानना है कि इनका कार्य क्या है एवं इनके उद्देश्य क्या हैं।

ट्रैक्टेटस के अनुसार प्रतिज्ञप्ति केवल एक कार्य करती है - तथ्य का चित्रण। परन्तु *पी. आई.* के अनुसार प्रत्येक कथन अनेकोनेक प्रकार से प्रयोग में आता है।

ट्रैक्टेटस के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति का आकार या तो उपयुक्त होता है या फिर अनुपयुक्त। परन्तु *पी. आई.* के अनुसार किसी भी प्रतिज्ञप्ति का आकार न तो उपयुक्त होता है और न ही अनुपयुक्त। किसी भी प्रतिज्ञप्ति के बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा समझी जा रही है या कि नहीं। इसके अनुसार दार्शनिक समस्याएँ भाषा को गलत ढंग से समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। दर्शनशास्त्र की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि भाषायी अभिव्यक्ति को गलत ढंग से समझे जाने की संभावना न हो तो दर्शनशास्त्र की कोई सार्थकता ही न होगी। दर्शनशास्त्र का कार्य हमें हमारी भ्रांतियों से अवगत कराना है। इसीलिए दार्शनिक खोज वैज्ञानिक खोज के विपरीत किसी नयी वस्तु का आविष्कार नहीं है। ''समस्याओं का समाधान नई सूचना देने से नहीं होता, अपितु समाधान सदैव पूर्व ज्ञात समस्याओं को व्यवस्थित करने से होता है।''(*पी.आई.* अनुच्छेद १०९)

ट्रैक्टेटस का सम्बन्ध भाषा के 'तार्किक आकार' से है। इसका सम्बन्ध ऐसी आदर्श भाषा की प्राप्ति है जिसमें 'तार्किक आकार' की विसंगति हो ही नहीं। *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* का सम्बन्ध आदर्श भाषा की प्राप्ति नहीं। यह भाषा में हस्तक्षेप के विरुद्ध है। इसका सूत्र है :'सब कुछ जस-का-तस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रख देना'। *ट्रैक्टेटस* के अनुसार भ्रांतियों का निराकरण या प्रतिज्ञप्तियों की स्पष्टता विश्लेषण के द्वारा उनके तार्किक आकार को दर्शाने से प्राप्त होती है। *पी. आई.* के अनुसार इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि प्रतिज्ञप्ति विशेष का उसके 'भाषा-खेल' में किस प्रकार प्रयोग हुआ है।

ट्रैक्टेटस और *पी. आई.* के दर्शनशास्त्र के सम्प्रत्यय में अन्तर के साथ-साथ समानताएँ भी हैं। विटगेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* और *पी. आई.* दोनों में दर्शनशास्त्र को विचारों का संग्रह न मानकर एक क्रिया मानते हैं। यह एक ऐसी क्रिया है जिसका उद्देश्य सामान्य भाषा की त्रुटियों के कारण उत्पन्न हमारी भ्रांतियों से हमें बचाना और प्रतिज्ञप्तियों को स्पष्टता प्रदान करना है। इसके अनुसार दर्शनशास्त्र की अपनी कोई विषय-वस्तु नहीं होती। इसका कार्य विचारों का स्पष्टीकरण है। (*ट्रैक्टेटस* ४.११२)

दोनों यह स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ भाषायी भ्रांतियों के कारण उत्पन्न होती हैं। इसीलिए दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि इन भ्रांतियों के निराकरण के बाद दार्शनिक समस्याओं का खोखलापन ज्ञात हो जाता है।

भ्रांतियों के निराकरण से दार्शनिक समस्याओं का खोखपालन इसलिए ज्ञात हो जाता है क्योंकि इससे भाषा को पूर्ण स्पष्टता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार, भाषायी स्पष्टता से दार्शनिक समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि दार्शनिक समस्याओं का हल (सोलुशन) प्राप्त कर लिया गया है। वस्तुतः दार्शनिक समस्याओं का हल नहीं प्राप्त होता है बल्कि वे विलीन (डिजाल्व) हो जाती हैं। ऐसा इसलिए है : क्योंकि दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति किसी भाषायी अभिव्यक्ति के तार्किक व्याकरण को त्रुटिपूर्ण ढंग से समझने के कारण होती है, इसीलिए जब इन त्रुटियों का निदान कर दिया जाता है तब दार्शनिक समस्याओं का स्रोत भी गायब हो जाता है। भाषायी त्रुटियों का निदान, कथन के 'भाषा-खेल' की समझ के द्वारा किया जा सकता है। 'भाषा-खेल' की समझ से ही दार्शनिक समस्याएँ विलीन हो सकती हैं। दर्शनशास्त्र का कार्य विवरण देना ही होता है। यह 'भाषा-खेल' और भाषायी त्रुटियों का केवल विवरण प्रस्तुत करता है न कि उनकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन कहते हैं, "दर्शनशास्त्र तो हमारे सामने सब कुछ रखता है, वह न तो कोई व्याख्या प्रस्तुत करता है और न ही कोई निर्गमन करता है।— क्योंकि सब कुछ हमारी आँखों के सामने खुला होता है, व्याख्या के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ बचता ही नहीं.....।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद १२६) इसी कारण, ''यदि कोई दर्शन में स्थापना प्रस्तुत करे तो उस पर चर्चा करना कभी भी संभव नहीं होगा, क्योंकि सभी उससे सहमत होंगे।'' (*पी. आई.* अनुच्छद १२८)

दार्शनिक समस्याएँ इस बात का लक्षण है कि भाषायी अभिव्यक्ति त्रुटिपूर्ण है और दार्शनिकों का कार्य इन त्रुटियों की जाँच करना है। इसीलिए ''दार्शनिक द्वारा किसी प्रश्न का विवेचन तो किसी रोग के उपचार के समान ही होता है।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद २५५) दर्शन का कार्य भाषा को सुधारना नहीं। भाषा की त्रुटियों को स्पष्ट कर देने से ही दार्शनिक समस्याएँ विलीन हो जाती हैं।

पी. आई. में इस बात की चर्चा मिलती है कि भाषा कैसे हमारी बुद्धि का वशीकरण करती है। *ट्रैक्टेटस* ४.००३१ 'आभासित तार्किक आकार' और 'यथार्थ तार्किक आकार' में अन्तर करता है। *पी. आई.* के अनुच्छेद ६६४ में 'सतही-व्याकरण' और 'गहन-व्याकरण' की चर्चा है। इसके अनुच्छेद १२२ के अनुसार हम प्रायः शब्दों के सतही प्रयोग से बच नहीं पाते क्योंकि हमारा शब्दों के स्पष्ट प्रयोग पर नियन्त्रण नहीं होता। जब हमारी भाषा के शब्द प्रथम दृष्ट्या समानार्थक व्याकरण पर आधारित होते हैं तब हम उनको समानार्थी समझते हैं। उदाहरण के लिए 'हरा हरा है', इस वाक्य में प्रथम 'हरा' उद्देश्य और द्वितीय 'हरा' विधेय या विशेषण है। ये दोनों अलग-अलग हैं किन्तु समान दिखते हैं। दर्शनशास्त्र में भ्रांतियाँ प्रायः इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। दार्शनिक समस्याओं की प्रकृति दिग्भ्रमित होने जैसी स्थिति जैसी होती है। ''दार्शनिक समस्या का रूप यह है : मुझे नहीं मालूम कि मेरा मार्ग कौन सा है।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद १२३)

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र हमें उचित मार्ग बताने का कार्य करता है? वास्तव में यह ऐसा नहीं करता है। यह हमारी क्रियाओं के लिए आवश्यक ज्ञान का आधार नहीं होता है बल्कि यह दर्शाता है कि हमारी क्रियायें एक विशिष्ट 'जीवन के आकार' में होती हैं। भाषा के सन्दर्भ में भी दर्शनशास्त्र यही कार्य करता है। इसका उद्देश्य भाषा को सुधारना नहीं बल्कि सब कुछ 'जैसा है वैसा ही' प्रस्तुत कर देना है। ''दर्शनशास्त्र किसी भी स्थिति में भाषा के वास्तविक प्रयोग में बाधक नहीं हो सकता है; यह अन्ततः केवल उसका विवरण दे सकता है। क्योंकि यह उसको कोई आधार नहीं दे सकता। यह प्रत्येक विषय को जस-का-तस छोड देता है।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद १२४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि दर्शनशास्त्र में उनके उद्देश्य एवं दार्शनिक समस्याओं की प्रकृति की तुलना बोतल में बन्द मक्खी को बाहर रास्ता दिखाने से की जा सकती है। वह *पी. आई.* के अनुच्छेद ३०९ में कहते हैं, "दर्शनशास्त्र में आपका उद्देश्य क्या है ?- बोतल में फँसी मक्खी को उससे बाहर निकलने का रास्ता बताना।" यहाँ मक्खी से तात्पर्य दार्शनिक और बोतल से तात्पर्य दार्शनिक समस्याओं से है। बोतल में बन्द मक्खी को बाहर रास्ता दिखाने का यह अर्थ नहीं है कि वह अनेक दिशाओं में उडने के लिए स्वतन्त्र है, बल्कि इसका अर्थ उसे केवल ऐसा रास्ता दिखाने से है जो उसे बोतल के बाहर कर देगा। इसी प्रकार, दर्शनशास्त्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी शब्द के अनेकोनेक प्रयोगों की व्याख्या प्रस्तुंत करे। इसका कार्य किसी अभिव्यक्ति विशेष के तार्किक व्याकरण की भ्रांतियों को स्पष्ट कर देना मात्र है।

किसी दार्शनिक समस्या की उपस्थिति का लक्षण यह है कि भाषा के तर्कशास्त्र को त्रुटिपूर्वक समझा गया है। भाषा को त्रुटिपूर्ण ढंग से समझने के कारण उत्पन्न हुयी समस्या का निदान, समस्या के स्वरूप के विवेचन के द्वारा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी अभिव्यक्ति के सन्दर्भ-विहीन अर्थ-निर्धारण के कारण उत्पन्न हुयी दार्शनिक समस्या का अन्त, सन्दर्भ-विहीनता के विवेचन से ही हो जाता है क्योंकि भाषायी त्रुटियों की अनुभूति से दार्शनिक को उस अभिव्यक्ति के सन्दर्भगत अर्थ की उपयुक्तता ज्ञात हो जाती है।

काली चरण पाण्डेय

विभागाध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग,
गवर्नमेंट कालेज,
धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश-१७६२१५
email: kcpandeyp@yahoo.com

टिप्पणियाँ

१. Ludwig Wittgenstein, **Philosophical Investigations**, tr. G. E. M. Anscombe Basil Blackwell, Oxford, 1953.

२. अशोक वोहरा, अनु. **फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस**, भारतीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, १९९६, पृ. VI, इस लेख में *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* के जिन अनुच्छेदों को मैंने उदधृत किया है उनमें से कुछ को छोडकर जो *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* के मेरे द्वारा किए गये अनुवाद हैं, बाकी सभी को इसी पुस्तक से लिया गया है।

३. Ray Monk, *Ludwig Wittgenstein* :**The Duty of Genius,** Vintage, London, 1991, p. 558.

४. K. T. Fann, **Ludwig Wittgenstein : The Man and His Philosophy** (ed.), Humanities Press, New Jersey and Harvester Press, Sussex, 1967, p. 11

५. इसके उपरान्त मैंने उद्धरणों को छोडकर *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* की जगह इसके संक्षिप्तीकरण पी. आई. का प्रयोग किया है।

६. Hans-Joann Glock, **A Wittgenstein Dictionary,** Blackwell, 1996, p. 286.

७. Stanley Cavell, 'Notes and afterthoughts on the opening of Wittgenstein's Investigations', **The Cambridge Campanion** *to Wittgenstein*, edited by Hans Sluga and David G. Stern, Cambridge University Press, 1996, p. 264.

८. K. T. Fann, **Op Cit.**, p. 11.

९. Ludwig Wittgenstein quoted in Anthony Kenny, **Wittgenstein,** Allen Lane, The Reference Press, London, 1973, p. 18.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानवचेतना का स्वरूप

मानव इस विश्व की सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत होते हुए भी अपने विचारों द्वारा एक क्षण सृष्टि से अलग खडा होकर यह जानने की चेष्टा कर सकता है कि यह सृष्टि आखिर किसलिए है। किन्तु न अचेतन जगत् (भौतिक वस्तु, जड) और न ही मानवेतर अन्य प्राणी इस तरह सृष्टि का अतिक्रमण कर उसे जानने की चेष्टा कर सकते हैं। भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन दोनों ही मानव को एक अतिक्रमण चेतना युक्त ज्ञानात्मक प्राणी मानते हैं।

वस्तुतः यह सम्पूर्ण जगत् मनुष्य के बाहर नहीं बल्कि उसके भीतर ही है। मानव अपने आन्तरिक तथा विषयीगत अस्तित्व में ही सर्वप्रथम चेतना के प्रति अपरोक्ष और अत्यंत तात्कालिक रूप से सजग होता है। मूल प्रश्न कि, 'चेतना क्या है ?' और 'मैं चेतन क्यों हूँ ?' इन प्रश्नों का उत्तर वह 'स्व' में खोजता है, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने कहा था, "मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ।" इसलिए मानवचेतना का अभिप्राय "स्व" की चेतना से है, किन्तु "स्व" चेतना एक सामान्य विषय-विषयी चेतना का रूप न होकर एक विलक्षण एवं गूढ चेतना है। इसलिए ऋग्वेद में कहा गया है - "मैं वस्तुतः क्या हूँ मैं नहीं जानता (ऋग्वेद १६.४.३७)। यह मानव द्वारा स्वयं अपने "स्व" पर अंतःप्रेक्षण का सम्भवतः प्रथम दृष्टान्त है। यही प्रश्न बार-बार उपनिषदों में उठा है - मैं कौन हूँ (कोऽहम्)? आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरूप कैसा है ? आदि-आदि। सम्भवतः मानव ने जब इस संसार में आँखे खोली होगी तो इस रहस्यमय संसार को देखकर उसके मन में उठने वाले प्रश्नों में से एक प्रश्न यही रहा होगा कि, 'मैं कहाँ से आया ? इस रहस्यमय संसार का रचियता कौन होगा?'

वस्तुतः मानवचेतना की अंतःप्रवृत्ति में जाने क्या एक प्रेरणा है, जिसके कारण जगत् के बाहरी परिचय से तृप्त न होकर उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। ज्ञानप्राप्ति के साधनों पंचज्ञानेन्द्रिय, (चक्षु, श्रवण, रसना, घ्राण, स्पर्श) मन तथा बुद्धि द्वारा चेतना अपने अनुभव से गोचर जगत् में सत्य तक पहुँचने का प्रयास करती है। धीरे-धीरे जब चेतना का क्रमविकास पूर्ण होता है, तब चेतना सम्यक् रूप से जागृत् और प्रबुद्ध हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाती है। मानव की यही चेतन अवस्था ज्ञान, कर्म और भोग को इन्द्रिय और मन की आधीनता से मुक्त करने के लिए प्रयास करती है। अपने स्वरूपभूत चित्तज्योति के प्रकाश से इस जगत् के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् परिचय प्राप्त करने में अपने को संलग्न कर देती है। यही मूलतः चेतना का स्वभाव है।

माण्डूक्योपनिषद् में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं यथा— जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति और आन्तरिक तुरीय– अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। (माण्डूक्य उप. ३, ४, ५) चेतना की ये चार अवस्थाएँ मानव जीवन के व्यक्तित्व विकास में अपना अलग-अलग महत्त्व रखती हैं।

चेतना की प्रथम अवस्था जागृति है जिसमें व्यक्ति की चेतना बाह्य पदार्थों से परिपूर्ण सामान्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है। इस अवस्था में मनुष्य स्थूल पदार्थों का सुखोपभोग करता है। यह देहाभिमानी चेतना है। इस अवस्था में जीवात्मा सात अंगों से युक्त होकर स्थूल विषयों का उपभोग उन्नीस मुखों (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) से करता है। उसका विज्ञान सम्पूर्ण विश्व में फैला रहता है। इसलिए उसे विश्वरूपा या वैश्वानर कहा गया है। (माण्डूक्य उप. ३)

चेतना की दूसरी अवस्था स्वप्न की है जिसमें जीवात्मा सूक्ष्म वस्तुओं का आनंद लेती है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४.३.९) में वह (पुरुष) इस (जागृत्) लोक की कुछ मात्रा लेकर अपने स्थूल शरीर से अलग होकर तथा स्वयं अपने वासनामय सूक्ष्म देह की रचना कर अपने प्रकाश से अर्थात् अपने ज्योतिस्वरूप से स्वयं को प्रकाशित करता है। यह पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप होता है। (माण्डूक्य उप. ४) तेजस् स्वरूप होकर अंतःप्राज्ञ होता है।

वस्तुतः स्वप्न अवस्था जागृत् और सुषप्ति के बीच की अवस्था है। इसका हेतु बहिर्मुखी इन्द्रियों का पूरी तरह शान्त हो जाना है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों के मनस् से एक हो जाने की बात कही गई है। (प्रशन उप. ४.२.५) अतः जागृत और स्वप्न की अवस्थाओं के बीच आवश्यक अन्तर यह है कि पहली में मनस् बाहर से प्राप्त संस्कारों से नये विचारों का निर्माण करता है, जबकि दूसरी में वह स्वयं ही बिना किसी सहायता के रूपों की कल्पना एवं सर्जना करता है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.१०) यद्यपि स्वप्नों का निर्माण स्मरण किए हुए संस्कारों से होता है, तथापि उसका अनुभव स्मृति से बिलकुल भिन्न होता है। स्वप्न जब तक चलता है, तब तक उतना ही वास्तविक लगता है जितना कि प्रत्यक्ष अनुभव। इसलिए स्वप्न को संवेदन से रहित प्रत्यक्ष कहा गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस अवस्था में चेतना का एक विशिष्ट अतिक्रामी रूप प्रकट होता है। वह बाह्यप्रत्यक्ष में प्रकट इस पदार्थ जगत् को जो मृत्यु स्वरूप है, लाँघ जाता है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.७)

चेतना की तीसरी अवस्था सुषुप्ति— स्वप्न रहित प्रगाढ निद्रा की है। इसमें इन्द्रियाँ और मनस् शान्त रहते हैं। फलतः इसमें सामान्य लौकिक चेतना का अभाव हो जाता है। इस अवस्था में जीवात्मा का ज्ञाता और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है और तब जीवात्मा का ब्रह्म (आत्म) से कुछ समय के लिए एक हो जाना कहा जाता है। लेकिन चूँकि सुषुप्ति का मोक्ष से अभेद नहीं किया गया है, इसलिए इस कथन को केवल निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए इस अर्थ में कि इस अवस्था में व्यक्तिगत अस्तित्व की चेतना नहीं रहती हालाँकि व्यक्तिगत अस्तित्व पहले की तरह बना रहता है। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार — सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानधन एवानन्दमयो ह्यानन्दभूक्चेतोमुखः प्राज्ञः। अर्थात् सुषुप्ति स्थान एकभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ आनन्दमय, आनंद का भोक्ता और चेतना रूप मुखवाला प्राज्ञ है। (माण्डूक्य उप. ५) इस अवस्था का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि इस अवस्था में यह पुरुष पूर्णतः प्रज्ञावान् होकर आत्मरूप होता हुआ न तो कुछ भी बाह्य को जानता है और न ही अभ्यंतर को। वह पूर्णतः आत्मसात् होकर अकाम होता हुआ सभी इच्छाओं और शोक से युक्त हो जाता है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.२) आगे इसी उपनिषद् के अनुसार "जैसे पारदर्शी जल में (वैसे ही सुषुप्ति में) एक अद्वैत द्रष्टा है यही ब्रह्मलोक (ब्रह्म की परम स्थिति) है। यह पुरुष की परमगति है, यह इसकी परम संपदा है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परमानन्द है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.३२)

प्रकटतः यहाँ साधारण अर्थ में चेतना की सुषुप्त अवस्था का वर्णन नहीं है, वरन् यहाँ सुषुप्तावस्था के प्रतीक से चेतना की उस चरम अतिक्राम्यता का संकेत है जहाँ जीवात्मा और ब्रह्म का अभेद होता है लेकिन साधारण रूप में भी चेतना के नितान्त अभाव की अवस्था यह नहीं है क्योंकि इसमें एक विशेष प्रकार का बोध बना रहता है। जैसा कि कहा गया है, यह शुद्ध आनन्द की अवस्था है। सुषुप्ति की पूर्ण शान्ति या आनन्दानुभूति को हम जागने के बाद स्मरण करते हैं, क्योंकि तब हमें न केवल यह लगता है कि हम सोते रहे वरन् यह भी कि हम उस अवस्था में शान्तचित्त और सुखी रहे।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार इस अवस्था में विशुद्ध आत्मस्वरूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्त आनंद ही किन्हीं अंशों में जागृत् और स्वप्न अवस्थाओं में विषयोपेक्षी आनंद का आधार होता है। (बृह. ४.३.३२) इस तरह चेतना की इस विशिष्ट अवस्था में उसकी अतिक्राम्यता का (अन्य) विशिष्ट रूप प्रकट होता है कि वह समस्त जीवों का जगत् का योनि स्वरूप प्रभव स्थान है, ईश्वर और सर्वज्ञ है। (माण्डूक्य उप. मंत्र ६)

द्रष्टव्य है कि जागृत अवस्था में वस्तुएँ वस्तुतः प्रस्तुत विषयरूपेण केवल उपस्थित होती हैं और उनके 'आदि' 'अंत' प्रकट नहीं होते। (गीता २.२८) तथा जबकि स्वप्नावस्था में भी वे केवल जागृतावस्था के अनुसरण के आधार से कल्पित होने से जागृत् अवस्था में लौटने पर लुप्त हो जाने के कारण विषय रूप वस्तुओं के चेतनाघृतं 'आदि' और 'अंत' का संकेत मात्र देते हैं, वहाँ दूसरी ओर सुषुप्तावस्था में आत्मघृतं आनंद के प्रकाश में उनके विश्वरूपेण प्रस्तुति का 'आदि' प्रथम बार उभर कर सामने आता है, यद्यपि यहाँ उनके 'अन्त' (लय) का केवल संकेत ही मिलता है, क्योंकि सुषुप्तावस्था से मनुष्य पुनः जागृत् व स्वप्नावस्था में लौटकर वस्तुओं को यथावत् पाता है। उसके 'अन्त' या लय का पूर्ण प्रकाश चेतना ही चतुर्थ अवस्था में होता है।

चेतना की चौथी अवस्था तुरीयावस्था है। यह अवस्था साधारण मनुष्य के अनुभव की पहुँच के अन्दर नहीं है । इसलिए इसे आनुभविक गवेषणा की नियत सीमाओं से बाहर माना जा सकता है। यह तर्कमूलक विचार को रोक कर स्वेच्छा से उत्पन्न की जाती है और एक को छोडकर अन्य सभी बातों में सुषुप्ति से मिलती-जुलती है। सुषुप्ति की तरह इसमें भी सामान्य चेतना का लोप हो जाता है, कामनाओं का अभाव हो जाता है और आनंद की अनुभूति होती है। किन्तु सुषुप्ति के विपरीत तुरीयावस्था के स्थिर हुए पुरुष का जागृतावस्था या स्वप्नावस्था के विषय रूपों में लौट जाने की वृत्ति स्वाभाविक या सहज न होकर आत्मानुगत और अनुशासित होती है।

इस अवस्था में चेतना के स्वरूप का वर्णन करते हुए उपनिषद् का कथन है कि "वह न तो बहिर्प्राज्ञ है, न अंतःप्राज्ञ और न ही उभयतः प्राज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न ही अप्रज्ञ। इसके विपरीत वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अकथ्य, एकात्म प्रत्ययसार (जागृत आदि अवस्थाओं में एकात्मरूपेण सार तत्त्व) प्रपंच उपराम वैकल्पिक अवस्था भेदों से रहित, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। वही आत्म है, वही जानने योग्य है। (माण्डूक्य उप. ७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छान्दोग्योपनिषद् में सुषुप्तावस्था से परे चेतना की इस अवस्था को उत्तम पुरुष की अवस्था कहा गया है। इसमें विषयाभाव के साथ-साथ आत्मभाव की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। (८.१२.३)

उपनिषदों में उल्लेखित चेतना की इन चार अवस्थाओं को प्रकटतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— लौकिक और लोकोत्तर। प्रथम तीन अवस्थाएँ—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति लौकिक हैं क्योंकि वे सहजतः और अनायास प्राप्त हैं, जबकि तुरीयावस्था लोकोत्तर है, क्योंकि उसकी उपलब्धि संन्यास या ध्यानयोग साधन द्वारा ही संभव है, जिसका स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वेतर उपनिषद् में हुआ है। चेतना की लौकिक अवस्थाओं के बीच एक विशेष चक्रक संबंध है, जैसे वैश्व दृष्टि से ब्रह्मचक्र भी कहा गया है। (श्वेता. उप. १.६,६.१) यह बंधन स्वरूप है अर्थात् वस्तुतः जन्म-मरण चक्र है। ध्यानयोग द्वारा इस चक्र के रहस्य को समझकर उसके अधिष्ठाता स्वरूप ब्रह्म को जान लेना ही जीव को चेतना की तुरीय अवस्था में पहुँचाता है।

तकनीकी अधिकारी, डा. मनोहर दाते
दर्शनशास्त्र-अध्ययनशाला,
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर (छत्तीगढ) ४९२०१०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna. A. M.Ghose and P. K. Srivastav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe,. Meena Kelkar and **P. P. Gokhale**(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), PartI, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 50/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy,
University of Pune,
Pune - 411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शंकर और रामानुज का मायावाद : एक तुलनात्मक अनुशीलन

शंकर वेदान्त

विख्यात इतिहासकार मैथ्यू आर्नल्ड ने अद्वैत वेदान्त को भारत का प्रतिनिधि दर्शन घोषित किया है। उनके अनुसार अद्वैत वेदान्त के बाद का समस्त दर्शन उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पनपा है। यहाँ तक कि आधुनिक भारत में नव्य वेदान्त की जो परम्परा दिखाई देती है उस पर आचार्य शंकर का ही प्रभाव है। निश्चय ही विश्वदर्शन के मानचित्र पर अद्वैत वेदान्त का जो चित्र उभरा है उसके कारण अन्य भारतीय दर्शनों की छवि पर छाए धुंधलके को दूर करने के लिए आज भी कठोर अध्यवसाय की आवश्यकता है।

लगभग सातवीं शती के आचार्य शंकर की प्रतिद्वन्द्विता में १२ वीं शती के आचार्य रामानुज दिखाई देते हैं। ये दोनों दाक्षिणात्य आचार्य अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर एकमत हैं — वेद, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, स्मृति और पुराणों का प्रमाणतः स्वीकार करने में, सांख्य के प्रकृतिवाद, वैशेषिक के परमाणुवाद, बौद्धों के विज्ञानवाद, जैनों के स्याद्वाद तथा न्याय के असत्कार्यवाद का खण्डन करने में दोनों एकमत हैं। कर्म के सिद्धान्त के प्रति दोनों दृढ आस्था व्यक्त करते हैं और मोक्ष की अविचल स्थिति को स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि इतनी समानताओं के बाद भी उनमें मूलभूत अन्तर क्या है ?

आचार्य शंकर की मूलभूत विशेषता जो उन्हें आचार्य रामानुज से अलग करती है और विषयिनिष्ठवाद का विरोधी सिद्ध करती है वह है, जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त। शंकर ने जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का मूल कारण 'ब्रह्म' और उसकी शक्ति 'माया' को माना है।

शंकर ने जहाँ माया को एक ओर ब्रह्म की 'शक्ति' कहा तो तो दूसरी ओर "अज्ञान" रूप भी। वे उसे सत्-असत् दोनों से परे, अनिर्वचनीय भी कहते हैं। माया की अपेक्षा से ईश्वर जगत् का कर्ता और उससे संबंधित न होने के कारण ब्रह्म है।

दार्शनिक चिन्तन मूलतः जिज्ञासा से निःसृत होता है। वस्तुनिष्ठ रूप से इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रसंग में अधिक कुछ कहना प्रायः कठिन होता है। किन्तु एक दार्शनिक के लिए जीवन और जगत् की व्यावहारिकता से निःसंग रहना उसके हित में कथमपि श्रेयस्कर नहीं हो सकता। अस्तु, दार्शनिक अपने सम-सामयिक परिवेश में जो कुछ अनुभव करता है, तथा जिस बोध को विकसित करता है, वह देश और काल के बंधनों से मुक्त होता है।

'माया' संस्कृत शब्द है। 'माया' का संस्कृत के अलावा दूसरी भाषा में उल्लेख नहीं मिलता। माया शब्द के कई अर्थ निकाले गये हैं -

माया शब्द "मा" धातु से बना है। मीयते या सा माया, जो नापा जाता है वह माया है अथवा मीयते अन्यासा माया अर्थात् जिसे नापा जाता है वह माया है। माया का अर्थ है मापने की शक्ति या इस शक्ति से मापने योग्य या निश्चित की जाने वाली वस्तु हो सकता है।

बेट्टी हीमान ने कहा है कि "मापने या विभाजित करने की इस शक्ति के द्वारा ही कृष्ण सभी इन्द्रियानुभविक या व्यावहारिक रूप धारण करते हैं और सभी माया अर्थात् मापने योग्य ससीम वस्तुएँ अव्यक्त से हीन प्रकार की हैं।" माया एक मानदण्ड है, एक माप है।

माया की व्युत्पत्ति 'मा' और 'या' इन दो शब्दों के योग से हुई है। "मा" का अर्थ 'नहीं' या 'न' है। 'या' का अर्थ 'जो कुछ' अर्थात् माया का अर्थ "जो कुछ न हो" होता है। जैसे हम कहें कि पानी है किन्तु पानी न हो और उसके स्थान पर रेत हो ऐसी दशा को हम माया कहते हैं।

माया शब्द का अर्थ प्रायः जादू, छल, कपट, इन्द्रजाल, मिथ्या धारणा, धोखा, जालसाजी, धूर्तता, दाँव, युक्ति, चाल आदि के लिए किया जाता है। लौकिक संस्कृत वेदान्त तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रचलित इसके विविध प्रयोग ही इन अर्थों के आधार हैं। सायण ने प्रसंगानुकूल माया के दो अर्थ किए हैं। देवों से संबद्ध होने के कारण इसका अर्थ अच्छा अर्थात् शक्ति या प्रज्ञा है और दुःसत्त्वों, असुरों आदि से संबद्ध होने पर इसका अर्थ बुरा अर्थात् कपट या दुष्प्रज्ञा है।

संहिताओं में माया का वर्णन इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र अनेक रूपों को धारण करके अनेक एवं अलग-अलग रूपों में प्रकट होते हैं। इन्द्र माया द्वारा अनेक रूप धारण करके यजमानों के पास उपस्थित होते हैं, क्योंकि इन्द्र के रथ में हजार घोडे जोते गये हैं।[१]

ऋग्वेद संहिता में 'माया' शब्द का प्रयोग इन्द्रादि देवताओं की शक्ति और प्रज्ञा के अर्थ में ही अधिक हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथर्ववेद में 'माया' का प्रयोग रहस्यमय शक्ति के रूप में हुआ है। जिसका देवताओं के साथ शुभ अर्थ में प्रयोग है और जो दानवों के साथ अशुभ शक्ति का द्योतक है। इसका उल्लेख रहस्यमयी, जादू, चालाकी दुर्बुद्धि आदि के अर्थ में हुआ है। असुरोंने एक मंत्र में विराट 'गौ' को माया कहा है और उससे माया रूपी दूध दूहा है।

शंकराचार्य के मायावाद के सिद्धांत की उत्पत्ति के संबंध में मतभेद हैं। शंकराचार्य के मायावाद का उदय स्वतंत्र रूप से शंकराचार्य की प्रतिभा का फल माना जाता है। उनका मायावाद उपनिषद्वर्ती सिद्धांत का ही विश्लेषण है।

प्राचीन उपनिषदों में "माया" शब्द का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। तथापि उसका अन्तर्निहित भाव उसमें सदैव विद्यमान रहा है। प्रश्नोपनिषद् में 'माया' पद का प्रयोग नैतिक प्रसंग में किया गया है।[२] वहाँ इसका अर्थ न ईश्वर की रहस्यमयी सृजनशक्ति है और न हमारी अविद्या किन्तु आचार की कुटिलता अथवा मिथ्याचार रूप छलना है।

रेगनाट के अभिमत में "यह पूर्णतया विदित है कि प्रमुख उपनिषदों में श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी को छोडकर कहीं भी माया शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता है।"

बृहदारण्यकोपनिषद् में केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, यह अंश भी ऋग्वेद से लिया है, जहाँ माया का अर्थ सृष्टि कर्त्री शक्ति है।[३] मेक्स म्युलर और थीबो माया के सिद्धांत को उत्तर काल की देन मानते हैं।[४] गफ ने कहा है कि, "मायावाद का सिद्धांत उपनिषदों का मूल सिद्धांत है।[५] आर. डी. रानडे का विचार है कि माया शब्द का प्रयोग उपनिषदों में बहुत बार नहीं हुआ है फिर भी माया शब्द का अन्तर्गत भाव उसमें वर्तमान है।[६]

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में माया का वर्णन प्रकृति के अर्थ में भी हुआ है। इस उपनिषद् में माया को प्रकृति और महेश्वर को मायावी कहा गया है।

भगवत् गीता में माया शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है, श्रीकृष्ण कहते हैं कि, "मैं अविनाशी और अजन्मा होने पर भी तथा समस्त भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ।[७] इसका तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान में जब उसके विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण हैं। अजन्मा का जन्म माया से होता है। दूसरे स्थान पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, "यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बडी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझे ही निरंतर भजते हैं वे इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं।"[८] माया शब्द ईश्वर की रहस्यमयी इस शक्ति के सांसारिक कार्य और जीवों की अविद्या के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु साथ ही संसार या संसार में विद्यमान् वस्तुओं के मिथ्या होने का भाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

'माया' का प्रयोग बौद्ध दर्शन में पाली लिपि के प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में प्रबंधना, छल, धोखा, कपट, धोखेबाजी, या कपटपूर्ण व्यवहार के अर्थ में हुआ है।[९] लंकावतार सूत्र में इसका प्रयोग अध्यास के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

ब्रह्मसूत्र में माया का प्रयोग शक्ति नहीं अपितु असद् वस्तु के अर्थ में किया गया है अर्थात् माया का प्रयोग एक ही बार किया गया है।[१०]

वेदान्त दर्शन में माया को परमेश्वर की अविद्यात्मिका बीज-शक्ति कहा है : यह शक्ति अव्यक्त शब्द के द्वारा निर्दिष्ट की गयी है। माया परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुषुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन क्रिया करते हैं।[११] त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान विरोधी भावरूप पदार्थ है। परमेश्वर की इसी अव्यक्त, अनादि, त्रिगुणात्मिका अविद्या स्वरूप माया शक्ति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है।[१२]

अव्यक्तनाम्नी पमेश्वरशक्ति रनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।

- विवेक चूडामणि ११०, पृ. ९१.

माया के स्वरूप के संबंध में शंकराचार्य का विचार है कि माया न सत् है, न असत् है। क्योंकि यदि माया को सत् माने तो चिदात्मा के समान इसका बाध कभी नहीं होना चाहिए। परन्तु तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश होता देखा गया है। अतः अज्ञान सत् नहीं है। अज्ञान बन्ध्यापुत्र और शशविषाण की भाँति असत् नहीं है, क्योंकि संसार के मोहपाश में बद्ध प्रत्येक व्यक्ति को "मैं अज्ञ हूँ" इस प्रकार का स्पष्ट भान होता है। अतः अज्ञान असत् भी नहीं है। अज्ञान सदसद्रूप भी नहीं है, क्योंकि सद्रूपता और असद्रूपता दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। अतः ज्ञान अनिर्वचनीय है।

शंकराचार्य का विचार है कि माया न सत् है, न असत् है और न उभय रूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न उभय रूप है, न अंग सहित है, न अंग रहित है, न उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूपा है।[१३] उक्त चिंतन एवं विचार अग्रलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जाता है -

सन्नाप्य सन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्य भिन्नाप्युभयात्मिका नो
संगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाअद्भुतानिर्वचनीय ॥

- विवेक चूडामणि (श्लोक, पृ. - २६)

विद्यारण्यक स्वामी का विचार है कि स्पष्ट रूप से भासित होने पर भी जिसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निरूपण न किया जा सके वही माया है।[१४] सत्-असत् से विलक्षण होने पर भी माया अभाव रूप नहीं है। वह ज्ञान का अज्ञान भी नहीं है। वह भावरूप है, क्योंकि उससे जगत् रूपी महाप्रपंच की उत्पत्ति होती है। माया ज्ञान विरोधी तमोरूप व भावरूप है। ज्ञान के द्वारा निर्वर्त्य होना ही माया का लक्षण है। यदि माया भावरूप न होती तो इसकी निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । माया को भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि उसे अभाव से विलक्षण बताना। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता तभी तक अज्ञान तमोरूप व भावरूप है। साक्षात्कार होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। माया लौकिक दृष्टि से सत् प्रतीत होती है। युक्तिपूर्वक विवेचन करने से अनिर्वचनीय जान पडती है। और आत्मज्ञान होने पर तुच्छ हो जाती है। वस्तुतः इसका निरूपण असम्भव होता है।

मायावाद के लिए गौडपाद ने जो तर्क किया है वह 'अजातवाद' कहा जाता है। उनका कहना है कि सत् से तत्त्वतः कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सत् से यदि कुछ उत्पन्न होगा तो वह सत् भी किसी कारण से उत्पन्न होगा और फिर वह कारण भी किसी अन्य से उत्पन्न होगा और इसी प्रकार अन्य-अन्य की अपेक्षा अनन्त तक जायेगी। अतः सत् से किसी तत्त्व की उत्पत्ति मानने में अनवस्था-दोष आएगा। अतः सत् से तात्त्विक उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि सत् से जो उत्पत्ति होती है वह केवल माया से है, अर्थात् वह केवल देखने में है।[१५] इस देखने का युक्तिसंगत अर्थ कुछ नहीं किया जा सकता है।

गौडपादाचार्य के मायावाद का शंकराचार्य पर अधिक प्रभाव पडा है। शंकराचार्य को मायावाद के सिद्धान्त के समर्थन के लिए गौडपादाचार्य की माण्डूक्य करिकाओं से एक सबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी। शंकराचार्य ने उपनिषदों एवं गौडपाद के सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने मायावाद के सिद्धांत का विकास किया था। माण्डूक्य कारिका पर शंकराचार्य ने एक भाष्य की रचना की थी। इस भाष्य के अन्तर्गत गौडपादाचार्य के मायावाद से शंकराचार्य प्रभावित हुए थे। गौडपादाचार्य के कतिपय स्थलों को शंकराचार्य ने ज्यों का त्यों अपना लिया था।

रामानुज वेदान्त

रामानुज दर्शन शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया से उपजा है। रामानुज प्रकृति को ही माया कहते हैं। वह जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न अद्‌भुत रचना मानते हैं तथा माया को उसकी अद्‌भुत कार्य सम्पादिका अनन्य एवं यथार्थ शक्ति, न कि आवरण शक्ति। रामानुज ने शंकर के माया संबंधी विचार को न स्वीकार करके चिदचिद् सगुण ब्रह्म की कल्पना की है और मायिक जगत् को शंकर की भाँति मिथ्या न मानकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्य स्वीकार किया है। रामानुज दर्शन में मायावी ईश्वर और निर्गुण ब्रह्म दो अलग तत्त्व न होकर सगुण ब्रह्म ही एक मुख्य तत्त्व है।

शंकर के अनुसार माया शब्द का अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति है। माया शक्ति सत् एवं असत् के विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुज ने माया को परमात्मा की विचित्र शक्ति का रूप दिया है। रामानुज माया को आश्चर्यवाची मानते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में रथादि का पूर्णतया अभाव होने पर भी रथादि की आश्चर्यजनक सृष्टि देखने में आती है, उसी प्रकार परमात्मा की यह सृष्टि भी आश्चर्य रूपा है। परमात्मा की यह सृष्टिकर्त्री शक्ति अचिन्त्या है। इसके अतिरिक्त रामानुज ने कहीं-कहीं माया का अर्थ कूट्युक्ति किया है।[१६]

रामानुज ने शंकर का विरोध किया। उनकी आत्मा को शंकर के विचारों से शान्ति नहीं मिली। उनकी समझ में नहीं आया कि माया मानने से शंकर का अद्वैतवाद कैसे सिद्ध हो जाता है। शंकर कहते हैं कि केवल ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म को छोड़कर और बहुत सी चीजें जो प्रतीत होती हैं, वे माया के कारण हैं। रामानुज विचार करना चाहते हैं कि यह माया क्या वस्तु है जिसके कारण बिना अस्तित्व रखते हुए भी यह जगत् प्रतीत होता है। शंकर माया को न ब्रह्म के समान सत् मानते हैं न खरगोश के सींग के समान असत्। जब सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है तो क्या ? यदि माया कुछ वस्तु है तो शंकर का अद्वैतवाद नहीं रहा। क्योंकि दो वस्तुएँ हो गईं —— एक ब्रह्म और दूसरी माया। यदि कहो कि असत् है अर्थात् कुछ वस्तु नहीं हो तो वह बहुत्व का भ्रम कैसे उत्पन्न कर देती है ? यदि कहो कि न सत् है और न असत् तो ऐसा कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। या तो कोई चीज है या नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि 'हो भी नहीं' और 'न हो भी नहीं।' खरगोश के सींग नहीं होते इसीलिए खरगोश के सींग को असत् की कोटी में रखते हैं। बैल के सींग होते हैं इसीलिए इसको असत् की कोटि में न रखकर सत् की कोटि में रखेंगे, जिसका 'अस्तित्व' नहीं उसका नास्तित्व होगा जिसका नास्तित्व नहीं उसका अस्तित्व अवश्य होगा। रामानुज ने 'माया' के विरुद्ध बहुत युक्ति-युक्त दोषों का उल्लेख किया है, और यदि 'माया' की कल्पना नहीं की जाती तो शंकर का मत ठहरता ही नहीं है। वहाँ हम उन सात दोषों को संक्षेप में दिखलाते हैं, यथा -

आश्रयानुपपत्ति दोष

माया किस के आश्रय ठहरेगी ? माया का कोई स्वयंसिद्ध और स्वयमाश्रित वस्तु नहीं जो अपने पैरों खडी हो सके। स्वप्न सदा स्वप्न देखने वाले के आश्रित होता है। यदि स्वप्न देखने वाला कोई नहीं तो स्वप्न भी कोई नहीं। मैं स्वप्न में देखता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हूँ कि हाथी पर चढा हूँ। यह हाथी पर चढने का स्वप्न किसके आश्रित हुआ ? मेरे, क्योंकि मैंने स्वप्न देखा और मैंने स्वप्न क्यों देखा ? इसीलिए कि मेरें मस्तिष्क में विकार है, मुझे नीद नहीं आई और जागृत् अवस्था के पडे हुए संस्कार घोर निद्रा के अभाव में मेरे मन के आगे नृत्य करने लगे। यदि मैं न होता तो स्वप्न भी न होता और यदि मैं होता परन्तु मेरे मस्तिष्क में विकार न होता तो भी मुझको स्वप्न न होता, इसीलिए स्वप्न के आश्रय के लिए एक ऐसी सत्ता चाहिए जो अल्प, अपूर्ण और विकार प्रभावित हो। शंकर कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है, अनन्त है, ज्ञान है। इसीलिए ब्रह्म तो 'माया' का आश्रय हो ही नहीं सकता। रहा 'जीव', शंकर जीव की अलग सत्ता नहीं मानते। उनके मत में तो माया से प्रभावित ब्रह्म ही जीव हो जाता है और पूर्ण ज्ञानी होते ही जीव अपने को ब्रह्म समझने लगता है। इसीलिए जब 'माया' से पहले जीव कोई चीज ही न था तो वह माया को आश्रय कैसे दे सकता है। इसीलिए रामानुज कहते हैं कि शंकर के मत में पहला दोष "आश्रयनुपपत्ति दोष" अर्थात् मायावाद की कल्पना करने से पूर्व शंकर ने यह नहीं सोचा कि 'माया' को मानने से उसके आश्रय को कहाँ से मानेंगे और जब तक आश्रय न माने उस समय तक माया की कल्पना ही कैसे कर सकेगें।

विरोधानानुपत्ति दोष

'माया' ब्रह्म को छिपा कैसे सकती है ? यदि ब्रह्म ही ब्रह्म है और ब्रह्म 'ज्ञान' है तो इस ज्ञान का तिरोधान कैसे हुआ ? जब तक प्रकाश न छिपे अंधेरा कैसे हो ? दीपक जल रहा है। समस्त स्थान में प्रकाश हो रहा है। या तो दीपक के ऊपर टोकरी रख दो या दीपक के सामने कोई दीवार खडी कर दो, तो प्रकाश रुक जायेगा और अंधेरा हो जायेगा। अंधेरे में साँप को रस्सी समझ सकते हैं और रस्सी को साँप । परन्तु यदि प्रकाश ही प्रकाश है, प्रकाश से इतर कोई वस्तु ही नहीं, न दीवार न टोकरी, तो अंधेरा कैसे होगा ? दीपक के तले अंधेरा तभी होता है जब दीपक का प्रकाश शून्य जला दीपक की 'लौ' को रोक लेता है और दीपक के ऊपर अंधेरा तभी होता है जब बिजली के बल्ब के ऊपर एक प्रकाश-शून्य खोल चढाते हैं। जब तक ब्रह्म के ज्ञान का तिरोधान नहीं होता, स्वप्न, अज्ञान, अविद्या, भ्रम या माया का प्रश्न ही नहीं उठता और ब्रह्म का तिरोधान हो कैसे ? या तो ब्रह्म को कोई ऐसी वस्तु मानो जो ढंक सकती है और माया को ऐसी वस्तु मानो जो ढांक सकती है। यदि ऐसा मानोगे तो ढांकनेवाली और ढंकवाली दो वस्तुएँ हो जायेगी और अद्वैतवाद का किला थम से आ गिरेगा। यदि मैं कोई वस्तु नहीं, किन्तु प्रतीत ही होती है तो वह ब्रह्म के ज्ञान को ढाँकने के लिए कभी पर्याप्त नहीं हो सकती। कल्पित दीवार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का कल्पित टोकरी से दीपक के प्रकाश को ढंक नहीं सकते और जब तक प्रकाश ढंकता नहीं, अंधेरा हो ही नहीं सकता। इसीलिए रामानुज कहते हैं कि मायावाद का दूसरा दोष- 'तिरोधानानुपपत्ति' है।

स्वरूपानुपत्ति दोष

शंकर ने 'माया' को मान तो लिया परन्तु वह उसके स्वरूप का निश्चय नहीं कर सके। कोई पूछता है कि शंकराचार्य क्या माया सत् है ? कहते है 'नहीं'। क्या असत् है ? कहते हैं, 'नहीं'। केवल 'नहीं' से तो काम नहीं चलता। यदि कहो कि 'नानात्व अर्थात् संसार में बहुत सी वस्तुएँ हैं। इस भ्रम को उत्पन्न करने वाली चीज माया है तो वह कोई चीज हुई ? फिर अद्वैत कैसा ? इतनी बात मानने से भी तो प्रश्न ही उठेगा कि यह माया ब्रह्म में भ्रम कैसे उत्पन्न कर देती है ? 'ज्ञान स्वरूप' ब्रह्म कैसे समझने लगता है कि मैं जीव हूँ, अल्प हूँ, मेरी नाक है, कान है इत्यादि।

अनिर्वचनीयत्वानुपत्ति दोष

शंकर 'माया' को अनिर्वचनीय मानते हैं अर्थात् न वह सत् है न असत्। अर्थात् है भी नहीं और नहीं भी नहीं। यह कैसे हो सकता है ? ज्ञान या तो सत् का होगा या असत् का। यदि ऐसी चीजों का भी ज्ञान मानोगे जो है भी नहीं और नहीं भी तो ज्ञान की कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। अनिर्वचनीयत्व एक निरर्थक शब्द है जिसका यहाँ पर कोई अर्थ नहीं ठहरता।

प्रमाणानुपपत्ति दोष

माया के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। जो न सत् है न असत् उसके लिए प्रमाण ही क्या। उसकी तो कल्पना ही अकारण है और ऐसी कल्पना के ऊपर किसी दर्शनशास्त्र की स्थापना करना उडते हुए रेत के ऊपर महल बनाना है।

निवर्त्तकानुपत्ति दोष

यदि यह मान भी लिया कि 'माया' ही बंधन है, माया ही रोग है जिसकी निवृत्ति करनी है, तो यह रोग निवृत्त कैसे होगा ? इसका निवर्त्तक क्या चीज है ? ब्रह्म को तो शंकर निर्गुण और निष्क्रिय मानते हैं। वह तो निर्विशेष है। इस प्रकार का ब्रह्म माया को कैसे दूर करेगा ? और जब तक माया दूर न हो मोक्ष कैसा ? विचित्र बात यह है कि बंध और मोक्ष को तो शंकर भी मानते हैं। इससे तो इनको इन्कार ही नहीं।

निवृत्यनुपपत्ति दोष

निवृत्ति (बन्ध नाश) की भी तो उपपत्ति नहीं है। बन्ध कल्पित तो है नहीं। बन्ध वास्तविक है। हम सबको उसकी अनुभूति होती है। बन्ध से बचने के लिए ही तो मोक्ष की इच्छा करते हैं। माया के मानने से यह भी युक्ति-संगत नहीं ठहरती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि बन्ध वास्तविक नहीं तो मोक्ष ही वास्तविक न होगा।

रामानुज कहते हैं कि 'माया' शब्द तो वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है परन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें शंकर लेते हैं। 'मायावाद' तो शंकर की अपनी ही कल्पना है।

जीव और ब्रह्म के विषय में शंकर और रामानुज के मत में यह अन्तर है कि रामानुज के लिए जीव और ब्रह्म दो पृथक् आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं, शंकर के लिए एक ही आध्यात्मिक तत्त्व है क्योंकि दो आध्यात्मिक तत्त्व अकल्पनीय हैं।

रामानुज के लिए जीव अणु और परिच्छिन्न है, वह ईश्वर का अंश है और उसका व्यक्तित्व रूप और परिच्छेद सदा अक्षुण्ण रहेगा। मोक्ष भक्ति और उपासना द्वारा ईश्वर के लोक की प्राप्ति है।

शंकर के लिए जीव वास्तव में विभु है। ब्रह्म ईश्वर से भिन्न है, उसके साथ भक्ति और उपासना का संबंध संभव नहीं। वह एक अनन्त आध्यात्मिक तत्त्व है जो हमारी आत्मा है। परिच्छिन्नता हमारी भौतिक सत्ता का एक प्रकार है, हमारी वास्तविक सत्ता का तत्त्व नहीं। मोक्ष इस अनन्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार है, जिसमें हमारे व्यक्तित्व का विनाश नहीं वरन् एक अनन्त आत्मा के रूप में उसका विकास होता है।[१७] शंकर वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है जबकि रामानुज वेदान्त में जीव को ज्ञः कहा गया है।

शंकर और रामानुज का कार्यकारण सिद्धांत भी एक दूसरे के विरुद्ध है। शंकर के अनुसार मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निर्मित कारण दोनों है। माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है एवं चैतन्य रूप होने के कारण निमित्त कारण है।

रामानुज के अनुसार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियों के नाम हैं। लयावस्था में जो ब्रह्म कारणरूप से स्थित रहता है वही सृष्टि काल में कार्य अवस्था में देखा जाता है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियाँ हैं। रामानुज सत्कार्यवाद और शंकर विवर्तवाद के समर्थक हैं।

शंकर के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण ब्रह्म का कार्य है और न परिणाम, ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का कार्य न होकर मायिक एवं प्रतीतिमात्र का फल है। कार्य-कारण-संबंधी उक्त विचार के कारण ही शंकर और रामानुज के ख्याति संबंधी विचार में भी अंतर है।

रामानुज सत् ख्यातिवादी है और शंकर अनिर्वचनीय ख्यातिवादी है। सत् ख्यातिवादी रामानुज के अनुसार युक्ति आदि में रजतादि की ख्याति असत्ख्यातिवादी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बौद्धों की तरह असत् अथवा शंकर वेदान्त की तरह अनिर्वचनीय न होकर सत् है। इसके विपरीत शंकर वेदान्त के अन्तर्गत युक्ति आदि में रजतादि की ख्याति को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है।

उपरोक्त कथनों से शंकर व रामानुज का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट हो जाता है।

अशोक कुमार शिल्पकार

दर्शन-विभाग,
डा. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति वक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पूरूरूप ईयते युक्ता हास्य हस्यः शतादश । ऋग्वेद , ६.४७.१८.
२. न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति, प्रश्नोपनिषद १.१६.
३. रेगनंद, ला माया, रिव्यू डे आइ हिस्टोरी हेज रिलीजियस टू मी, XII, नं. ३,१८८५, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट २९०५ ३४
४. एफ. मेक्सम्युलर थ्री लैक्चर्स ऑन वेदान्त फिलासफी, पृ. १२८.
५. ए. इ. गफ, फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स, नई दिल्ली, १९७५, पृ.२५६.
६. आर. डी. रानडे, ए कन्सट्रीक्टव सर्वे ऑफ इंडियन फिलासफी, बम्बई, १९६८, पृ. १६२.
७. भगवद् गीता, ४.६.
८. वही, ७.१४.
९. एस. एन. दासगुप्ता, भारतीय दर्शन, भाग-१ पृ. ४७०.
१०. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, ३.२.३.
११. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १.४.३.
१२. अनुवादक मुनिलाल, विवेक चूडामणि, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. २६. श्लोक ११०.
१३. वही, पृ. २६, श्लोक १११
१४. पंचदशी, ५.१४१.
१५. सतोहि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
उत्तवते जायते यस्य जातं हि तस्य जायते।- माण्डूक्य कारिका, ३.२.७.
१६. रामानुजभाष्य और गीता, ७.१५.
१७. रामानंद तिवारी शास्त्री, श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन, १९६४, पृ. ६५.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मीमांसा दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास

हमारे पूर्वज प्राचीन ऋषि महर्षियों ने बौद्धिक एवं आध्यात्मिक बल की वृद्धि के लिए विभिन्न दर्शनशास्त्रों का आविर्भाव किया है। विद्वानों ने दर्शन की अनेक परिभाषायें दी हैं, किन्तु संक्षिप्त रूप में दर्शन तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अमृत्व प्राप्ति की आकांक्षा से किये गये प्रयोगों द्वारा अनुभूत तथ्यों का एक संकलन है। वास्तव में यह समस्त विद्याओं का भण्डार है एवं आत्मदर्शन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। यह शाश्वत और अविच्छिन्न अनुभवों का आगार है। आत्मदर्शन से मनुष्य मृत्यु से पार होकर अमरता को प्राप्त कर लेता है -

तमेव विदित्त्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय -

यजुर्वेद - रुद्राष्टाध्यायी

आत्मतत्त्व तक मनुष्य को पहुँचाने के कारण दर्शन आत्मविद्या या अध्यात्मशास्त्र भी कहा गया है। यह दर्शन-अर्थक दृश् धातु से 'दृश्यते अनेन' इस शाब्दिक व्युत्पत्ति से ल्युट् प्रत्यय होने पर सम्पन्न होता है।

वास्तव में दर्शन महर्षियों के बुद्धिबल की उत्कृष्ट देन है। मनुष्य की बुद्धि के उत्कर्ष को शब्दों में आंका नहीं जा सकता है, क्योंकि मानवीय बुद्धि के उदय एवं विकास का कोई निश्चित प्रामाणिक काल नहीं है। इसीलिए दर्शन के उदय का कोई समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। मानवबुद्धि की एक धारा वेद-प्रामाण्य को शिरोधार्य करती है और दूसरी उसका निराकरण करती हुई आगे बढती है। वेद का प्रामाण्य स्वीकार कर चलने वाली धारा के समक्ष अनेक परम्परायें हैं। दूसरी सर्वथा अमर्यादित है। इन्हीं में से एक को आस्तिक दर्शन एवं दूसरे को नास्तिक दर्शन के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव में नास्तिक दर्शन न होते तो आस्तिक दर्शनों का इतना विकास सम्भव नहीं था।

आस्तिक दर्शनों की छः प्रसिद्ध धारायें हैं - सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त। प्रत्येक धारा साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न है। इन आस्तिक दर्शनों में मीमांसा एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। वेद के विषय में महती आस्था रखते हुए मीमांसक जिस प्रकार वेद तत्त्व का विमर्श करते हुए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसका स्वरूप बतलाते हैं, वैसा अन्य दार्शनिक नहीं बतलाते। सम्पूर्ण क्रिया-कलापों के मूलभूत वेद का निकृष्ट वाक्यार्थ वर्णन करने के लिए यह द्वादश लक्षणी मीमांसा प्रायः सभी विद्याओं को समय-विद्या, न्याय अथवा तर्क-विद्या, मीमांसा, तंत्र-विद्या, पूर्व मीमांसा, पूर्वतन्त्र, विचारशास्त्र, अध्वर मीमांसा, वाक्यशास्त्र, एवं धर्मशास्त्र इत्यादि विभिन्न रूपों में प्रमाणित करती है। इसके ये अनेक रूप की इसकी प्रमुखता एवं उपयोगिता को अनुमानित करने के लिए पर्याप्त हैं। इसीलिये वार्त्तिककार भट्टपाद कुमारिल ने

मीमांसाख्या तु विधेयं बहुविद्यान्तराश्रिता ।
न शुश्रूषयित्तुं शक्या प्रागनुवत्वा प्रयोजनम् ॥ **श्लोकवर्त्तिक, १३**

ऐसा बतलाकर इसकी उपादेयता को प्रमाणित किया है।

मीमांसा शब्द पूजित विचारार्थ में प्रसिद्ध है- 'पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्द' (**भामती**, पृ. ४६, मुम्बई सं.)। 'मान पूजायाम्' एवं 'मान् विचारे' धातु पाठ के द्वारा 'मान्' धातु पूजा एवं विचार दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। मानबन्धदानशाम्यो दीर्घचाम्यास्य' (**पाणिनिसूत्र**, ४.१.४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अनिच्छार्थ में 'मान्' धातु से 'सन्' प्रत्यय एवं अभ्यास का दीर्घ होने पर 'मीमांसा' शब्द निष्पन्न होता है। 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् वा' इस बाद के सूत्र द्वारा इच्छार्थ में 'सन्' का विधान करने के कारण पूर्व 'मान्धव...' इस सूत्र के द्वारा अनिच्छार्थ में 'सन्' प्रत्यय का विधान कर 'मीमांसा' शब्द को निष्पन्न कराते हैं। इस प्रकार पूजार्थ में एक धातु एवं विचारार्थ में दूसरे धातु का प्रयोग होता है। किन्तु पूजित विचारार्थ में कोई धातु नहीं है। अतः पूजित-विचारार्थ में 'मीमांसा' शब्द कैसे निष्पन्न हुआ, ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कल्पतस्कार ने 'प्रसिद्धिबलात् पूजित विचारार्थत्वम्' ऐसा कहकर समाधान किया है।

वास्तव में 'मीमांसा' के उदय का कोई समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। मीमांसा से हमारा अभिप्राय विचार है। विचार की यह वृत्ति हमारे वाङ्मय-वेद तक में उपलब्ध है। वस्तुतः वेद ही इस धारा का उद्गम स्थल है। याग, होम आदि प्राचीनतम प्रयोगों से इस शास्त्र का सम्बन्ध है। इसलिए भी इसकी पुरातनता में कोई सन्देह नहीं है। इसकी भिन्न-भिन्न आख्यायें भी इस तथ्य में साक्षी हैं।

मीमांसा का उदय श्रौत कर्मों को नियंत्रित करने के लिए ही हुआ है। एक निर्विवाद तथ्य है। वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं के आधार अनुष्ठीयमान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भिन्न-भिन्न कर्मों की प्रक्रियायें समय की गति के साथ-साथ अलग-अलग सरणियों में बहने लगी थीं। भिन्न-भिन्न विद्वान् वेद के विभिन्न वाक्यों के अभिप्रायों को लेकर प्रक्रियाओं में विभिन्नता लाने लगे थे। इससे कर्मकाण्ड की वास्तविकता लुप्त होने लगी। इस आवश्यकता ने 'मीमांसा' के उदय की प्रेरणा दी। अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों ने इस प्रक्रिया पर नियंत्रण स्थापित किया एवं वेदवाक्यों का जो अर्थ विभिन्न विचारकों ने किया था, उन्हें अपने विचार की कसौटी पर कस कर औचित्य और अनौचित्य को सिद्ध किया है। इससे कर्मकाण्ड में काल की गति के साथ-साथ जो अनेक रूपतायें दृष्टिगोचर हो रही थी, वह एकरूप हो गई। इस तरह मीमांसा दर्शन ने न सिर्फ कर्मकाण्ड अपितु वेद के ऊपर आने वाली अप्रामाणिकतारूपिणी महती विपत्ति की रक्षा की है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

इस 'मीमांसा' शास्त्र का मूल स्रोत संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता में 'इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः (**तैत्तिरीयसंहिता, ५.७.१**) ऐसा प्रयोग एवं काठक संहिता में 'उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते' (**काठक संहिता, ३.३.७**) इस प्रकार का प्रयोग प्राप्त होता है। ब्राह्मण भागों में इस प्रकार के प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। वेद के अन्तिम अथवा ब्राह्मण भाग के अनुवर्ती परिच्छेद (**उपनिषद**) में 'मैषा आनन्दस्या मीमांसा भवति' (**तैत्तिरीयोपनिषद् ८ अनुवाक्**) ऐसे अनेक वाक्य उपलब्ध हैं। अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि संहिता एवं ब्राह्मणभाग में यह शब्द जितनी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ है, उतनी मात्रा उपनिषद् भाग में नहीं। इस प्रकार ब्राह्मण भागों में ब्रह्मवादियों द्वारा की गई मीमांसा संशय, पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के रूप में देखी जाती है। उदाहरणार्थ - 'अभिधार्या नाऽभिधार्या इति मीमांसन्ते' - ऐसा वाक्य '—धातुर्मास्यान्तर्गत त्र्यम्बकहविर्विधिप्रकरण' में श्रुत है। यहाँ संशय है कि होम के पूर्व हवि का अभिधार किया जाना चाहिए अथवा नहीं। इस पर पूर्वपक्ष किया गया कि अभिधार नहीं करना चाहिए। 'तन्न सूक्ष्र्यम्' ऐसा कहकर पूर्वपक्ष का खण्डन किया गया है। सिद्धान्त पक्ष में अभिधार करना चाहिए, यह वस्तुस्थिति है। इसी प्रकार अनेक स्थलों में जैसे 'संस्थाप्यां इन्न संस्थाप्या इ मिति मीमांसन्तेऽग्निहोत्रम्', 'होतव्यं दीक्षितस्याग्निहोत्रान्नहोतव्या इमिति मीमांसन्ते, वासिष्ठो रोहिणो मीमांसा चक्रे' इत्यादि अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। यह मीमांसा पूर्वकाण्डगत तत्तद् वैदिक ब्राह्मण मार्गों में ही उपलब्ध नहीं है, बल्कि उत्तरकाण्ड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपनिषदों में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इससे यह स्पष्ट अवगत होता है कि वैदेक्देश ब्राह्मण भाग के साथ ही यह विचारसरणि जो 'मीमांसा' नाम से अभिहित होती है - आविर्भूत हुई है। इसी विचार प्रमुखता के आधार पर अन्वेषण करने पर मीमांसा के उदय का इतिवृत्त महर्षि जैमिनि से अनेक परम्पराओं पूर्व तक पहुँच जाता है। वेदों के पौर्वापर्य के आधार पर भी इस विचारशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था का परिज्ञान हो नहीं सकता है। वेदत्रयी में ऋग्वेद का आविर्भाव सर्वप्रथम एवं यजुर्वेद का उसके अनन्तर हुआ। ऋग्वेद के अन्तिम एवं यजुर्वेद के प्रारम्भ का संक्रमण काल वस्तुतः विचार का प्रारम्भ है। यजुर्वेद के प्रारम्भ (१.५.९) विचार प्रवर्तित हैं जिन्हें देखने से यह ज्ञात होता है कि उस काल का मानव विवेकशील एवं प्रभावशाली था। विवेक का यह विकास बढता गया एवं ब्राह्मण भाग तक उसे एक नियत स्वरूप भी प्राप्त हो गया। ब्राह्मण भाग के अनेक प्रकरणों में विचार की यह प्रणाली 'मीमांसा' नाम से व्यपदिष्ट हुई। शैली के परिशीलन से ब्राह्मणें में भी मैत्रायणीय एवं तैत्तिरीय शाखाओं की प्राचीनता एवं ऐतरेयादि की अर्वाचीनता स्पष्ट होती है। मैत्रायणीय एवं तैत्तिरीय दोनों शाखाओं के विचार की प्रमुखता तैत्तिरीय की अर्वाचीनता का प्रतिपादन करती है एवं विचार की आत्मा मैत्रायणीय की प्राचीनता का बोध कराती है। विचार की इस धारावाहिक परम्परा का विकसित स्वरूप 'मीमांसा' है, जिसका ऐतिहासिक उदय ब्राह्मण भाग से है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वस्तुतः ब्राह्मण-काल ही 'मीमांसा' के उदय का काल है - जहाँ से इसकी धारा अविच्छिन्न प्रवाह के साथ बहती चली आ रही है।

अति प्राचीनकाल में महर्षियों की गोष्ठियों में जो विचार होते थे उनका अभिधान श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही होता था। उस काल में विषयों के अधिगम के लिए पुस्तकादि लिखित साधन नहीं थे। परन्तु सभी विषय के परिज्ञाता व्यक्ति थे। उनका एकमात्र साधन श्रोत्रेन्द्रिय ही मानना होगा। इसका परिणाम यह निकला कि जिस प्रकार श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का 'श्रुति' नाम पडा उसी प्रकार दर्शन और शास्त्र का भी 'श्रुत' नाम पडा। श्रवण का फल है — बोध। बोध का फल—आचरण एवं आचरण का फल—प्रचारण माना जाता है। इस क्रम से सभी शास्त्रों का प्रचार होता है। इसी सातत्य में 'मीमांसाशास्त्र' भी आविर्भूत हुआ। अर्थात् महर्षि जैमिनि ने उन गोष्ठियों में सुने हुए एवं निर्धारित विषयों की अभिव्यक्ति सूत्र रूप में की है। श्रौत, स्मार्त, कर्मकाण्डियों के अनुष्ठान सन्देह हो जाने पर वेदवाक्यों का मंथन कर सन्देह को दूर करते हुए अनुष्ठान किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है। उसी का रूपान्तर है —'मीमांसाशास्त्र', जिसके सूत्र-प्रवर्तक जैमिनि हैं। जैमिनि ने अपने सूत्रों के द्वारा कोई बात को सूचित नहीं किया है, बल्कि तत्तद गोष्ठियों में निर्धारित न्यायों का संकलन मात्र किया है जैसा कि चातुर्मास्य के साकमेध पर्व में 'आज्यभागो यजति' यह वाक्य श्रुत है। इसका विचार जैमिनि ने मीमांसा दर्शन के दशमाध्याय के सप्तम पाद के नवमाधिकरण में किया है। वहाँ का सिद्धान्त पक्ष यह है कि यह वाक्य प्रकृति से अतिदेश के द्वारा प्राप्त अंगों का प्रतिषेध करता है। लेकिन यह बात कही नहीं जा सकती कि इस सिद्धान्त से पूर्व के अनुष्ठाता साकमेधपर्व गृहमेधीयेष्टि में प्रकृति दर्शपूर्णमास के अंगों का भी अनुष्ठान करते थे। यह निश्चय है कि कर्मों का अनुष्ठान अविच्छिन्न परम्परा से होता था और यह भी निश्चित है कि जैमिनि के पूर्व कर्मों के अनुष्ठाता होते ही थे। इसी को हम सम्प्रदाय शब्द से कहते हैं। सम्प्रदाय का अर्थ - अविच्छिन्न गुरुशिष्य पारम्पर्य है। उस पारम्पर्य में 'मीमांसाशास्त्र' का प्रचार हुआ। अतएव वेद की परम्परा जिस प्रकार मानी ज़ाती है, उसी प्रकार 'मीमांसा' की भी माननी चाहिए। त्रिकालदर्शी महर्षियों ने भविष्य के लोगों में स्मृतिशक्ति के दौर्बल्य का अनुभव करते हुए सूत्रभाष्य आदि की रचना की है।

इस सूत्र कथन की पुष्टि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह सूत्र ही करता है। इस जिज्ञासाधिकरण में मीमांसा को वेद विधि मूलकत्व सिद्ध किया गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वेदवाक्य ही कहता है कि मीमांसाशास्त्र का आरम्भ करना है तो वेद के काल के पूर्व विचार नहीं था ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होता है। जगत् अनादि है। अतः वेद भी अनादि है। यदि सृष्टि मानी जाती है तो प्रश्न उठता है कि किसकी सृष्टि ? यदि प्रलय होता है तो किसका ? इसका समाधान जगत् को लेकर ही दिया जाना चाहिए। इससे भी जगत् की अनादिता बीजांकुरन्याय से, ऋतुलिंगन्याय से सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार मीमांसा सम्प्रदाय अनादि है, ऐसी हमारे पूर्वज प्राचीन ऋषि-महर्षियों की धारणा है।

उदय होनेके साथ-साथ इसके विकास में अधिक समय नहीं लगा। मीमांसाशास्त्र की जो सुन्दर-सी लता जैमिनि ने लगाई, वह दिन-प्रतिदिन पुष्पित एवं पल्लवित होती गई। यहाँ तक कि एक बार ऐसी बसन्त की बहार आई, जो १९वीं सदी के आरम्भ काल तक रही।

लोक एवं वेद दोनों में उपकार प्रस्तुत शास्त्र का सर्वत्र प्रचार के लिए जैमिनि, शबरस्वामी प्रभृति अनेक महाभागों ने सूत्र-भाष्य आदि ग्रन्थों की रचना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की है। ये अतिगहन हैं। परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि शाबरभाष्य के पूर्व मीमांसासूत्रों के ऊपर कुछ भाष्य अवश्य थे। लेकिन वे भाष्य कहीं भी नामतः या रूपतः उपलब्ध नहीं है। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र दोनों ने शाबरभाष्य की व्याख्या की है। दोनों ही महानुभावों ने परस्पर विभिन्न रीति को अपनाया है। दोनों में स्वतंत्र गति, विचारचातुरी एवं विवेचनाशक्ति थी। अतः दोनों ही मत भाट्ट एवं प्राभाकर मत के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनमें शाबरभाष्य की मत में भट्टवार्तिक, न्यायसुधा, शास्त्रदीपिका, मयूखमालिका, मयूखावली, प्रकाश, भाट्टदीपिका, प्रभावली, चन्द्रोदय इत्यादि अनेक ग्रंथ, उनकी व्याख्या एवं व्याख्याओं की व्याख्यायें लिखी गईं। इस रूप में इनका प्रचार हुआ। प्रभाकर मत में बृहती, ऋजुविमला, न्यायविवेक, नयविवेकदीपिका इत्यादि व्याख्यायें एवं उनकी भी व्याख्यायें की गईं। भट्ट मत का जो प्रसार क्रम देखा गया वह प्रभाकर मत का देखा नहीं गया है। प्रभाकर मिश्र निर्मित भाष्यटीका भी आज समग्र रूप में मुद्रित नहीं है। प्रभाकर मिश्र द्वारा शाबरभाष्य की बृहती एवं लघ्वी नाम की व्याख्या की गई। उनमें प्रथम बृहती नामक व्याख्या अत्यन्त अल्प मात्रा में मुद्रित हुई है। लघ्वी का नाम मात्र अवशिष्ट रह गया, इसकी उपलब्धि स्वरूपतः नहीं हुई है।

इस प्रकार साधारण रूप से प्रसार होते हुए भी भाट्ट मतानुसारी ग्रन्थ एवं वार्तिकों का यथावत् ज्ञान अल्पबुद्धि के लिए अत्यन्त कठिन है ऐसा जानकर पार्थसारथि मिश्र ने भाट्टमत का अवलम्बन कर विषय, संशय आदि को एकत्रित कर स्वरूप में समग्र शास्त्र को संग्रहीत किया है, जो शास्त्रदीपिका नाम से व्यपदिष्ट हुई है। यही इस शास्त्र का प्राथमिक ग्रन्थ है। इसके अनन्तर जैमिनीय न्यायमाला, न्यायबिन्दु, भाट्टदीपिका, आदि अधिकरण संग्रहात्मक ग्रन्थ प्रादुर्भूत हुए एवं उनकी व्याख्यायें भी की गईं। तदनन्तर मीमांसा पदार्थ के संग्रहात्मक न्यायरत्नमाला, वेदप्रकाश, न्यायप्रकाश, भाट्टभास्कर, अर्थसंग्रह, मीमांसापरिभाषा आदि प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये। एवञ्च इसी परम्परा में मीमांसा का विकसित रूप भी अविच्छिन्न प्रवाह के समान दृष्टिगोचर हो रहा है। उल्लिखित प्रसंग से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में मीमांसा के विकास का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था, यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

रिसर्च एसोसिएट (एस. ए.पी.) डॉ. नागेन्द्र तिवारी
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी- २२१००५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में तर्क की अवधारणा

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में तर्क शब्द का उल्लेख नहीं है, परन्तु ऋग्वेद में एक स्थल पर "ऊह" शब्द का प्रयोग विशेष महत्त्व का है।[१] निरुक्तकार यास्क की दृष्टिं में "ओह ब्रह्मन्" अथवा "ऊह ब्रह्मन्" का आशय तर्क से है। यही कारण है कि उन्होंने अभ्यूह, ऊह और तर्क को एकार्थक माना है।[२] प्रायः ऐसे ही विचार अमरकोश में भी व्यक्त करते हुए अध्याहार, तर्क और ऊह को पर्याय शब्द कहा गया है।[३] भानुजी दीक्षित के अनुसार "तर्क" के पर्यायवाची "ऊह" की निष्पत्ति "ऊह वितर्के" धातु से हुई है। "तर्क" एक प्रकार का वाक्य है जो सन्देह का छेदन करता है।

सूत्र साहित्य में तर्क शब्द का बहुल प्रयोग मिलता है।[४] तथापि वहाँ निरुक्त की भाँति पारिभाषिक अर्थ की वैसी स्पष्टता नहीं है। किन्तु उपनिषद्काल तक तर्क की प्रतिष्ठा में न्यूनाधिक्य वृद्धि देखी जाती है। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" का उद्घोष करने वाले उपनिषद् यह भी स्वीकार करते हैं कि "तालु और रसना के निपीडन तथा वाणी, मन और प्राण के निरोध से ब्रह्म को तर्क से देखा जाता हैं।[५] संक्षेप में परिनिष्ठित दार्शनिक चिन्तन से पूर्व "तर्क" या "ऊह" को लेकर यही धारणा प्रचलित रही है।

न्याय :

परिनिष्ठत दर्शनों में सर्वप्रथम न्यायसूत्रकार गौतम ने सोलह पदार्थों में "तर्क" नामक पदार्थ की गणना करते हुए उसका लक्षण "अविज्ञाततत्वेर्थे कारणोपपत्ति तस्तत्त्वज्ञानमूहस्तर्कः"[६] इस प्रकार निर्धारित किया। वात्स्यायन ने सूत्र को स्पष्ट करते हुए कहा है - तर्क निर्णयात्मक तत्त्वज्ञान न होकर अनुज्ञामात्र है। यह सभी प्रमाणों का अनुज्ञाता या अनुग्राहक होता है। तर्क द्वारा विमर्श करके जो अर्थ विनिश्चय होता है, वह निर्णय है।[७]

जयन्तभट्ट अपने गम्भीर चिन्तन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संशय में दोनों पक्ष समान होते हैं, निर्णय में अन्य पक्ष का स्पर्श ही नहीं होता, जबकि तर्क दो पक्षों में से एक पक्ष को उत्थापित करता हुआ प्रतीत होता है।[८]

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक १, दिसम्बर २००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साम्येन हि समुल्लेखः संशये पक्षयोर्द्वयोः।
निर्णयेत्वितरः पक्षः स्पृश्यते न मनागपि।।
तर्कस्त्वेकतरं पक्षं विभात्युत्थापयान्निव ।

तदनन्तर उन्होंने मीमांसकों के ऊह का खण्डन करते हुए कहा है कि मीमांसकों द्वारा कल्पित उह शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं है। प्रमाण दशा और सन्देह दशा के मध्य में आने वाले तर्क का न्यायशास्त्र में ग्रहण है।

तदेव मीमांसक कल्प्यमानो नोहः प्रमाण व्यतिरेकमेति।
प्रमाण सन्देह दशान्तरालवर्त्ती तु तर्कः कथितोत्र शास्त्रे।।[१]

तर्क के विषय में कतिपय अन्य तथ्य ध्यातव्य हैं :-

(क) जिस ऊह को तर्क कहा जाता है उसका लक्षण करते हुए विश्वनाथ पञ्चानन का कथन है : ऊह तर्कणा क्रिया के अनुभव से प्रमाणित है। ऊहत्त्व मानसत्व का व्याप्य जाति विशेष है।
ऊहत्त्वं च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः तर्कयामि इत्यनुभवसिद्धः ।

(ख) तर्क न्याय प्रमाणों का अनुग्रह करता है। तार्किक रक्षा के अनुसार पक्ष में विपक्ष की जिज्ञासा का विच्छेद ही तर्क का अनुग्रह है।
पक्षे विपक्ष जिज्ञासा विच्छेदस्तदनुग्रहः।

(ग) उसी ग्रन्थ में कहा गया है कि व्याप्ति, तर्क का अनुच्छेद, विपर्यय में अन्त, अनिष्ट प्रसङ्ग और प्रतिकूलत्व ये पाँच तर्क के अङ्ग होते हैं।

इन पाँच अङ्गों का अन्य ग्रंथों के आधार पर विचार अपेक्षित है -

१. व्याप्ति ज्ञान में तर्क को उपयोगिता का निदर्शन करते हुए विश्वनाथ कहते हैं : व्याप्ति ज्ञान में कहीं-कहीं तर्क द्वारा शंका का निवारण होता है।
२. तर्क का अप्रतिहत रहना आवश्यक है। जब तक शंका का उच्छेद नहीं हो जाता तब तक तर्क का क्रम विछिन्न नहीं होता।
३. विपर्यय अथवा अप्रमा में ही तर्क का अन्त होता है, क्योंकि संशय के अनन्तर और निर्णय के पूर्व तर्क की गति रहती है।
४. नव्य न्याय के आचार्य केशव मिश्र अनिष्ट प्रसङ्ग को तर्क कहते हैं (तर्कोनिष्ट प्रसङ्गः) क्योंकि व्याप्त को अङ्गीकार करके अनिष्ट व्यापक का प्रसङ्ग लाया जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. तर्क निर्णय के विपरीत प्रसंग लाने का कार्य करता है। अतःउसे परिभाषित करते हुए अन्नंभट्ट कहते हैं : व्याप्त के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। जैसे यदि अग्नि न हो तो धूम भी न हो। यहाँ अग्नि का अभाव व्याप्य है उसके आरोप के अनन्तर व्यापक धूमाभाव का आरोप किया जाता है।[१०]

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्नि न स्यात् तर्हि धूमोपि न स्यादिति। - तर्कसंग्रह, पृ. ५६.

(घ) महान् नैयायिक उदयन ने अपनी कृति "आत्मतत्त्वविवेक" में और विश्वनाथ ने लक्षणसूत्र की वृत्ति में तर्क के पाँच भेद स्वीकार किये हैं, यथा : १. आत्माश्रय, २. इतरेतराश्रय, ३. चकक, ४. अनवस्था और ५. अनिष्ट प्रसङ्ग।

आत्माश्रय : तार्किकरक्षा में वरदराज ने लिखा है : "आत्माश्रयादि भेदेन तर्क पंचविध स्मृतः।" इस अनिष्ट प्रसङ्ग की अन्य संज्ञा है बाधित प्रसङ्ग। प्रमाण से बाधित अनिष्ट, अस्वीकृत पदार्थ की आपत्ति ही बाधितार्थ प्रसङ्ग है। तथापि प्रत्येक तर्क वैशिष्ट्य सम्मत होने के कारण स्वतन्त्र रूप से उल्लिखित होता है। अपनी अपेक्षा से आपत्ति उत्पन्न करने वाले अनिष्ट प्रसंग को आत्माश्रय तर्क कहते हैं (स्वापेक्षापादकोनिष्ट प्रसङ्ग आत्माश्रय)। ज्ञान उत्पत्ति और स्थिति को लेकर अपेक्षा तीन प्रकार से बनती है। अतः आत्माश्रय तर्क तीन प्रकार का हो जाता है। जैसे, यह घटज्ञान यदि इसी घट के ज्ञान से उत्पन्न होता तो इस घटज्ञान से भिन्न होता। यहाँ ज्ञान की अपेक्षा से अनिष्ट प्रसङ्ग हुआ है। यह घट यदि इसी घट से उत्पन्न होता तो इस घट से भिन्न होता। यहाँ उत्पत्ति को लेकर अनिष्ट प्रसङ्ग है। यह घट यदि इस घट में ही होता तो इस रूप में न होता। यहाँ स्थिति की अपेक्षा में अनिष्ट प्रसङ्ग है। अर्थात् अपनी उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञान में अव्यवहित पूर्व क्षण में अपनी अपेक्षा करनेवाले पदार्थ (घट) से जिस अनिष्ट की आपत्ति होती है उसे ही आत्माश्रय भेद कहते हैं। अन्य यद्ययं घट एतद् घटजन्य स्यात् एतद् घंटानधि कारणोत्तरक्षवर्त्ती। शब्दों में किसी वस्तु को उसी के आधार पर प्रतिपादित किया जाना आत्माश्रय दोष कहलाता है (स्वनैवे स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रय दूषणम्)।

इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय : अपनी अपेक्षा से अपेक्षित अन्य पदार्थ के कारण जो अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होता है उसे इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तर्क की संज्ञा दी जाती है। इसमें भी ज्ञान उत्पत्ति और स्थिति की अपेक्षा होती है। जैसे यदि यह घट अपने ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का विषय होता है तो इस पट से भिन्न होता। यहाँ ज्ञान की अपेक्षा से इतरेतराश्रय है। यदि वह घट अपने से उत्पन्न घट से उत्पन्न होता है तो इस घट से भिन्न होता। यहाँ उत्पत्ति-सापेक्ष अनिष्ट प्रसंग है। इसी प्रकार स्थिति सापेक्षता होती है - यह घट यदि इस घट से उत्पन्न घट में होता तो इस घट से भिन्न होता। अन्य शब्दों में जहाँ दो लक्षण अपनी सिद्धि हेतु परस्पराश्रित होंगे वहाँ इतरेतराश्रय भेद या दोष होता है और उस दोष की उपेक्षा करते हुए उसी पर आश्रित जो तर्क प्रस्तुत किया जाता है वह इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय तर्क है।

चक्रक : जहाँ अपने अपेक्षणीय से अपेक्षित सापेक्षता के कारण अनिष्ट प्रसंग हो वहाँ चक्रक नामक तर्क होता है। दो या दो से अधिक पदार्थों की अपेक्षा कर अंत में पुनः अपनी ही अपेक्षा हो जाने पर जिस अनिष्ट की आपत्ति होती है वही चक्रक है। अन्य शब्दों में जहाँ अनेक पदार्थ परस्पर सापेक्ष भाव से चक्राकार रूप में अवलम्बित हों वहाँ चक्रक भेद उपस्थित होता है।

अनवस्था : वृत्तिकार के शब्दों में अनवस्था तर्क की परिभाषा इस प्रकार है : "अनवस्था च अव्यवस्थित परम्परारोपाधीनानिष्टप्रसङ्गः" अर्थात् अव्यवस्थित परम्परा के आरोप से अनिष्ट प्रसंग को अनवस्था तर्क कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि घटत्व घटजन्यत्व का व्याप्य होता तो कपाल समवेतत्व का व्याप्य न होता। अथवा घटत्व यदि सभी घटों के कारण में स्थित होता तो घटजन्य कपालादि में स्थित न होता।

प्रमाणबाधितार्थक प्रसङ्ग : उक्त चार से भिन्न यह तर्क कहीं व्याप्तिग्राहक होता है और कहीं विषय का परिशोधक। जैसे, यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि का कार्य न होता। यह व्याप्तिग्रहण में सहायक तर्क है। यह विषय शोधक तर्क है क्योंकि इसके द्वारा वह्नि आदि विषय का निश्चय किया जाता है।

(ड) सर्वदर्शनसंग्रह में ग्यारह प्रकार के तर्क परिगणित हैं।[११] इनमें से पाँच तर्कों का विवेचन हो चुका है शेष हैं - व्याघात, कल्पना लाघव, कल्पना गौरव, उत्सर्ग, अपवाद और वैजात्य। कल्पना लाघव और कल्पना गौरव में युक्ति का संक्षेप या विस्तार होता है और उत्सर्ग सामान्य नियम है, जबकि अपवाद विशेष नियम है। वैजात्य विलक्षणता की संज्ञा है। व्याघात असम्बद्ध अर्थवाला वचन है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-नैयायिकों के अनुसार व्याघात आदि कोई युक्ति नहीं प्रस्तुत करते, अतः पाँच ही तर्क हो सकते हैं। ऊपर जो परिभाषाएँ दी गई हैं वे यदि किसी अंश में न्यून हों तो तर्काभास होता है। तर्काभास को तर्कपराहति भी कहते हैं।

वैशेषिक :

वैशेषिक सूत्र में अप्रमा के लिए अविद्या शब्द का उल्लेख हुआ है।[१२] प्रशस्तपाद ने अविद्या के जो चार भेद बताए हैं उनमें तर्क का ग्रहण नहीं है,[१३] जबकि परवर्ती नैयायिकों ने उसे अप्रमा में संशय और विपर्यय के साथ परिगणित किया है। न्यायकन्दली में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए संशय और निर्णय के मध्य तर्क की प्रतीति प्रमाणित है।[१४]

सिद्धान्त पक्ष की अवतारणा करते हुए कन्दलीकार यह प्रश्न उठाते हैं कि परपक्ष के अभाव की प्रतीति तर्क है या स्वपक्ष की सम्भावना ? प्रथम पक्ष में तर्क प्रमाण ही है। द्वितीय पक्ष में पुनः प्रश्न उठता है कि इसकी उत्पत्ति में कारण क्या है ? स्वपक्ष साधक प्रमाण से पूर्व तर्क को माना जाता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष आता है कि तर्क से विवेचित विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति है और प्रमाण से तर्क की उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाए कि विपक्ष के अभाव की प्रतीति के अनन्तर स्वपक्ष की सम्भावना का जन्म होता है, अतः विपक्षाभाव की प्रतीति ही तर्क का कारण है, तो तर्क का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जायेगा। प्रतिपक्षी पुनः कह सकता है कि तर्क दो पक्षों में से एक पक्ष को अनुज्ञामात्र देता है, अवधारणा नहीं करता। यह संशय भी नहीं है, क्योंकि इसमें उभय कोटि का स्पर्श नहीं होता, अतः संशय से प्रच्युत और निर्णय को अप्राप्य सम्भावना (तर्क) अप्रमा है। इस पर आक्षेप करते हुए कन्दलीकार का दृढ मत है कि अन्वय तथा व्यतिरेक से विपक्षाभाव की प्रतीति प्रमाणयोग्य निश्चय रूप अनुमान है। यह अनुमान सभी प्रमाणों का अनुग्राहक हो सकता है। अनुग्राहकता के बिना सम्भावना अनर्थक होगी।

मीमांसा :

मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद तर्कपाद अवश्य कहलाता है, किन्तु सूत्र और भाष्य में तर्क पर विशेष विचार नहीं किया गया है। हाँ, परवर्ती मीमांसकों ने तर्क को प्रमाणों का अनुग्राहक माना है। सम्भवतः इसी अनुग्राहकता को ध्यान में रखते हुए कुमारिल को कहना पडा कि जो पदार्थ किसी का साधकतम कारण कहा जाता है उसे अनुग्राहक की अपेक्षा होती है। लोक में ऐसा कोई कारण नहीं होता जिसे साध्य की सिद्धि में अनुग्राहक की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपेक्षा न हो। जैसे, प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय को प्रकाश के अनुग्रह की अपेक्षा होती है।[१५] गागाभट्ट ने कहा है कि व्याप्तिज्ञान में तर्क द्वारा व्यभिचार की शंका को निवृत्त किया जाता है (व्याप्यारोपेण व्यापकारोपद्वाराअनिष्ट प्रसञ्जनं तर्क - न्या.को.)। वस्तुत तर्क व्याघातरूप होता है! जहाँ शंका नहीं होती, वहाँ तर्क की अपेक्षा नहीं रहती।

सायण माधव का कथन है कि कहीं-कहीं तर्क शब्द प्रमाण का अनुग्राहक होता है। नारायण तर्क को परिभाषित करते हुए कहते हैं : प्रमाण द्वारा जिस अर्थ को सिद्ध किया जा रहा हो, उसके अन्यथाभाव की शंका के निवारणार्थ अन्यथाभाव में दोषकथन तर्क है।[१६] इसी कारणवश तर्क को अनिष्ट प्रसंग कहते हैं। इसके पाँच अंग हैं। अंगों में से किसी अंग की विकलता होने से तर्काभास होता है, अतः पाँच प्रकार के तर्काभास बनते हैं :

१. व्याप्ति का अभाव
२. तर्क प्रतिहति तर्क
३. विपर्यय में अवसान न होना
४. विपक्षी द्वारा तर्क की इष्ट-रूप में स्वीकारोक्ति
५. प्रतिपक्षी के अनुकूल तर्क।

तर्क के आत्माश्रय आदि विविध भेद नारायण ने वे ही परिगणित किए हैं जो न्याय में आ चुके हैं। इसके अनन्तर उन्होंने स्पष्ट किया है कि तर्क व्याप्ति का शोधक होता है। जब तक व्याप्ति शुद्ध न हो जाय तब तक तर्क और प्रतितर्क कर सकते हैं। तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक होता है (तस्मात्सर्वप्रमाणानां तर्कोनुग्राहकः स्थितः - मा. मे., पृ. ४५)।

वेदान्त :

शांकरभाष्य में तर्क का ग्रहण अनुमानार्थक रूप में ही हुआ है। आचार्य शंकर की दृष्टि में तर्क आगम की अपेक्षा दुर्बल है। आगमशून्य तर्क पुरुष की कल्पना मात्र पर स्थित होते हैं और कल्पना निरंकुश होती है। अर्थात् तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, क्योंकि एक तर्क के विपरीत दूसरा तर्क अनुमेय को सिद्ध कर देता है।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्याविमोक्ष प्रसङ्गः।[१७]

इस जगत् में कोई यत्न से उत्प्रेक्षा करके तर्क खडा करता है, दूसरा उससे भी आगे बढ कर प्रथम को तर्काभास सिद्ध कर के अन्य तर्क प्रतिष्ठित कर देता है। अन्य किसी के द्वारा दूसरे को भी तर्काभास सिद्ध करके अन्य ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तर्क खडा कर लिया जाता है। अतः तर्क व्यवस्थाविहीन है, क्योंकि वह पुरुष की बौद्धिक विविधता से रूपाकार ग्रहण करता है। इस सूत्र पर शंकर ने जो अनेक साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्रमुखतः तीन दृष्टव्य हैं :

१. महाभाग कपिल का सम्मत तर्क लिया जाए तो कभी महर्षि कणाद द्वारा विप्रतिपत्ति देखी जाती है।
२. तर्क न केवल अप्रतिष्ठित है अपितु तर्क से ही तर्कों की अप्रतिष्ठा परस्पर आचार्यों द्वारा सिद्ध की जाती है। इस प्रकार जब कुछ तर्क अप्रतिष्ठित हो जाते हैं तब सभी तर्कों पर संशय खडा हो जाता है।
३. यद्यपि यह व्यावहारिक सत्य है कि तर्क के आधार पर सुख प्राप्ति और दुःख परिहार की लोकयात्रा बनती है। और मनु सदृश धर्माचार्यों ने भी तर्क की महिमा स्वीकार की है,[१८] अतः अप्रतिष्ठित होना उस तर्क का अलंकार है। विवेकी पुरुष को चाहिए कि सदोष तर्क का परित्याग करके निर्दोष तर्क स्वीकार करे। आचार्य शंकर यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इसे मान्य करके भी मोक्ष को तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्मविद्या के सन्दर्भ में वेदान्तसूत्र का तर्कपाद अन्य मतों के खण्डन में क्यों प्रवृत्त होता है ? प्रत्युत्तर में आचार्य शंकर कहते हैं - दार्शनिकों ने वेदों के मंत्रों के उद्धरण दे-देकर अपने-अपने मतों को सम्यक् ज्ञान का शास्त्र सिद्ध किया है। इस भ्रम के निराकरण हेतु तर्क द्वारा ही विपक्षियों के तर्कों का खण्डन ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं के लिए अत्यावश्यक हो जाता है।[१९]

वेदान्त के दूसरे प्रमुख आचार्य रामानुज, आचार्य शंकर की भाँति तर्क को पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न मानते हुए यह स्वीकार करते हैं कि देश और काल के भेद से लोग अन्य तर्क की उद्भावना कर लेते हैं, अतः अतीन्द्रिय वस्तु में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के संवर्द्धन हेतु ही तर्क उपादेय हुआ करता है, अतएव मनु ने भी वेदरूप शास्त्र के अविरोधी तर्क के अनुसन्धान का महत्त्व स्वीकार किया है।

वेदान्त के तीसरे प्रमुख आचार्य मध्व तर्क को अनुमान का ही एक प्रकार मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में : "व्याप्ताङ्गीकारेनिष्ट प्रसञ्जनं तर्क" व्याप्त के अङ्गीकार में अनिष्ट प्रसंग तर्क है।[२०]

प्रामाणिक हान और अप्रामाणिक कल्पन के रूप में अनिष्ट के क्रमशः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चार भेद यहाँ दृष्टव्य हैं :

१. श्रुतहान - यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो जगत्कर्ता भी नहीं हो सकता।

२. दृष्टहान - यदि पर्वत अनग्नि होता तो निर्धूम होता।

३. अश्रुत कल्पन - यदि ईश्वर जीव से अभिन्न होता तो दुःखी होता।

४. अदृष्ट कल्पन - यदि पिया हुआ जल भीतर जलाता तो मुझे भी जला देता।

व्याकरण :

वेदान्तिकों की भाँति वैयाकरणों ने तर्क को अनुमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्जानं तदप्यागम पूर्वकम्।।

आगम रहित तर्कद्वारा धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती। ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक ही होता है।[२१] स्वोपज्ञ टीका में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि धर्म तर्कातीत है। धर्म-संस्कार-सम्पन्न ऋषियों को ही तत्त्वज्ञान होता है। आगे भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि धर्म के अविच्छिन्न मार्ग व्यवस्थित होते हैं। उन्हें लोकप्रसिद्ध मानकर तर्क द्वारा बाधित नहीं किया जाता।[२२]

सतो विवक्षा परार्थ व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते।

तर्क द्वारा ही विविध विभाग करके न्याय स्थापित किया जाता है। कहीं-कहीं सत् की उपेक्षा कर दी जाती है और कहीं उनका समावेश कर लिया जाता है। तर्क से ही लाक्षणिक अर्थ निकाला जाता है, परन्तु यह शब्द से भिन्न शक्ति नहीं है।[२३]

शब्दानामेव सा सशक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः ।
शब्दाननुगतो न्यायो नागभेष्य निबन्धनः ।।

पुरुष में रहने वाला तर्क शब्दों की ही शक्ति है क्योंकि कोई न्याय ऐसा नहीं होता जो शब्द से अनुगत न हो। आगमहीन तर्क निराधार है। अतएव स्वोपज्ञ टीका में कहा गया है कि जिस तर्क में शब्द शक्ति का अनुग्रह नहीं होता और जो साधर्म्य-वैधर्म्य मात्र का अनुसरण करता है वह शुष्क तर्क है, जो सभी आगमों के उपघात का कारण होता है।[२४]

सांख्य :

सांख्य के प्रत्यय सर्ग के अन्तर्गत आठ सिद्धियों में ऊह का प्रथम स्थान है। यद्यपि सांख्यसूत्र और भाष्य में उसका तर्क अर्थ नहीं किया गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi.Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है,[२५] फिर भी तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र का यह मन्तव्य दृष्टव्य है :

ऊहस्तर्क आगमाविरोधि न्यायेनागमार्थपरीक्षणं परीक्षणं च।
संशयपूर्वक निराकरणेनोत्तर पक्ष व्यवस्थापनम् तदिदं
मननाचक्षते आगमिनः ।।

आगमानुकूल न्याय से आगम कें अर्थ का परीक्षण ऊह या तर्क है। इसी को मनन कहते हैं। संशय और पूर्वपक्ष का निराकरण कर के उत्तरपक्ष को प्रतिष्ठित करना परीक्षण है। वाचस्पति मिश्र ने मनन और उत्तरपक्ष की व्यवस्था कह कर तर्क को निर्णय के समीप मान्य किया है। परन्तु सिद्धि का भेद होने के कारण यह निर्णय को भी अन्तर्भूत कर लेता है।

ज़ैन :

माणिक्यनंदी ने तीन सूत्रों में ऊह पर विचार किया है। प्रभाचन्द्र ने टीका में उसे तर्क बतलाया है। परिभाषा सूत्र इस प्रकार है :

उपालम्भानुपलम्भानिमित्तं व्याप्ति ज्ञानमूहः ।

व्याप्तिज्ञान को ऊह या तर्क कहते हैं जिसके उपलब्धि और अनुपलब्धि दो कारण हैं। आगे सूत्र में तर्क के स्वरूप को इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट किया गया है :

इदमस्मिन सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति।

यह इसके होने पर ही होता है, न होने पर नहीं ही होता। जैसे, आग होने पर ही धूम होता है, उसके न होने पर नहीं ही होतां। प्रभाचन्द्र कहते हैं : प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तर्क भी प्रमाण ही है।[२६]

काव्यशास्त्र :

काव्यशास्त्र में एक व्यभिचार भाव ''वितर्क'' कहलाता है। भरत उसकी परिभाषा इन शब्दों में देते हैं :

वितर्कों नाम सन्देह-विमर्श-विप्रतिपत्त्यादिभिर्विभावैदुत्पद्यते।
विचारणादि सम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः।
वितर्कः सोभिने यस्तु शिरोभ्रक्षेण कम्पनैः।

वितर्क भाव सन्देह विमर्श और विप्रतिपत्ति आदि कारणों से उत्पन्न होता है। उसमें सन्देह का अतिशय रहता है।[२७] भूविक्षेप, कम्प और शिरश्चालन द्वारा उसका अभिनय किया जाता है। इस लक्षण को हम न्याय दर्शन के प्रसंग में देख चुके हैं। पंडितराज जगन्नाथ नाट्यशास्त्र की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न निश्चयानुकूल ऊह वितर्क है।[२८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्क स च निश्चयानुकूलः

विशेष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों में तर्क शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। ऊह, विशेष, अनुमान, तत्त्वमीमांसा और आगमार्थ परीक्षण जैसे अर्थ ऊपर उल्लिखित हुए हैं। न्याय और वैशेषिक शास्त्र को भी तर्क ही कहा जाता है। अन्नंभट्ट ने मङ्गल श्लोक की दीपिका में कहा है : तर्कित या प्रतिपादित किये जाने वाले पदार्थों को तर्क कहते हैं।[२९] इससे स्पष्ट है कि तर्क विद्या पदार्थों के प्रतिपादन का शास्त्र है।

डॉ. सुरेन्द्र सिंह नेगी

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग,
डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. ऋग्वेद, १०/७/८.
२. निरुक्त १३/१२.
३. अमरकोश १/५/३.
४. पाराशर गृ.स. २/६/५; गौतम धर्म सूत्र ११/२५.
५. छान्दोग्य २/९.
६. न्यायसूत्र १/१/४०.
७. वही. १/१/४१.
८. न्यायमंजरी, भाग २, पृ. १४४-४८ तथा पृ. १४५.
९. वही, पृ. १४८.
१०. तर्कसंग्रह, पृ. ५६.
११. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २३९.
१२. वैशे. स. ४/१/५; ७/१/२१.
१३. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ४११.
१४. देखिये वही, पृ. ४१५-४१९.
१५. श्लोक. वा. सम्बन्ध ३६-३७.
१६. जैमिनीय न्यायमाला विस्तर २/१/३; प्रमाणेन साध्यमानस्यार्थस्य अन्यथात्वशङ्कायां तन्निरासार्थम् अन्यथात्वे दोष कथनं तर्क - मा.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मे., पृ. ३५.

१७. ब्रह्मसूत्र, २/१/११.

१८. मनु., १२/१०६.

१९. ब्रह्मसूत्र, २/[illegible]/१.

२०. द. प्र., भाग १, पृ. ५४.

२१. वाक्यपदीय, १/३०.

२२. वही, १/३१.

२३. वही, १/३६.

२४. वही, १/३७.

२५. देखिये, सांख्यकारिका ३१; ३/४४.

२६. देखिये, प्रकमा. ३/११, ३/१२ एवं ३/१३.

२७. का. शा., ७/९२.

२८. रगं, पृ. १११.

२९. तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति तर्का द्रव्यादिसप्तपदार्थाः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति - ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

★

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय चिन्तन में देह की अवधारणा - एक दृष्टि

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है इसलिए उसके मन में निरन्तर जीवन, देह आत्मा के सन्दर्भ में नाना प्रश्न एवं जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती रहती हैं - मैं क्या हूँ ? शरीर तत्त्व क्या है ? उत्पत्ति/जन्म के बाद शरीर का स्वरूप, मृत्यूपरान्त शरीर का स्वरूप क्या है ? आदि-आदि प्रश्नों और जिज्ञासाओं के समाधान ''दर्शनशास्त्र'' में उपलब्ध होते हैं। दर्शन मानव संस्कृति का मूल स्तम्भ है। जीवन को यथार्थ रूप में देखने व समझने की वास्तविक दृष्टि प्रदान करता है।

समस्त प्राणियों में सर्वाधिक ब्रौद्धिक क्षमता रखनेवाला मानव ही है। मानव में विभिन्न वस्तुओं को जानने की जिज्ञासा एवं कौतुहल है। मानव की यही कौतुहल एवं संशयात्मक प्रवृत्ति ही सार्वभौमिक सिद्धान्त खोजने की प्रवृत्ति रही है। इसी जिज्ञासा प्रवृत्ति के कारण हमने भारतीयदर्शन पर दृष्टिपात करते समय यह जाना कि भारतीयदर्शन में आत्मा के प्रत्यय पर तो विशद् चर्चा हुई है परन्तु देह की अवधारणा पर स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक विवेचन बहुत कम हुआ है। देह के प्रत्यय पर जो भी विवेचना हुई वह गौण रूप से हुई है तथा वह भी नकारात्मक सन्दर्भ में। क्योंकि प्रमुख रूप से यहाँ आत्मा और मोक्ष के प्रत्यय हीं विचार के विषय रहे हैं। दूसरे शब्दों में, चार्वाक को छोडकर सभी दार्शनिक तन्त्र आत्मा के बारे में विभिन्न प्रश्न उठाते रहें हैं जैसे कि - आत्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा तथा अनात्मा में क्या सम्बन्ध है ? आत्मा के स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है ? आदि-आदि। परन्तु देह क्या है, यह प्रश्न उनके लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

यद्यपि देह/शरीर पर विचार उपनिषदों - ईशावास्योपनिषद् (मन्त्र-१७), मुण्डकोपनिषद् (३.१.१,२), ऐतरेयोपनिषद् (१.२.१,२,३), कठोपनिषद् (२.२.७) में मिलता है परन्तु यह चर्चा मात्र विवरणात्मक है। यहाँ पर भी देह से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्नों को उभारा नहीं गया है। इसी प्रकार अन्य भारतीय दार्शनिक तन्त्रों में जो भी चर्चा है वह भी विमर्शात्मक नहीं कही जा सकती।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक १, दिसम्बर २००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Grant-2

स्पष्टता के लिए हम यहाँ विभिन्न दार्शनिक तन्त्रों में इस बिन्दु पर उपलब्ध विचारों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

न्याय-दर्शन के अनुसार शरीर चेष्टा, इन्द्रियों और अर्थों का आश्रय और भोग का स्थान है। इनके अनुसार शरीर दो प्रकार के हैं - योनिज एवं अयोनिज। देवताओं की देह को अयोनिज कहते हैं। वीर्य एवं रक्त का नाम योनि है तथा उससे उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है। योनिज देह चार प्रकार की होती है - १. जरायुज, २. अण्डज, ३. स्वेदज एवं ४. उद्भिज । न्यायदर्शन भी देह को दुःखों का कारण मानता है।

योग-दर्शन में शरीर को स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण के रूप में विभाजित किया गया है। इनके अनुसार संसार दुःखमय है। संसार में आते ही जीव को दुःख के अथांग सागर से जूझना पडता है। योग देह को मुक्तिप्राप्ति में साधन के रूप में प्रयोग करता है। इसी प्रकार तन्त्र में भी देह को साधन के रूप में प्रयोग किया गया है। योग के अनुसार योगाभ्यास ही विवेक ज्ञान का साधन है। इससे शरीर एवं मन की शुद्धि हो जाती है। योग के तीन प्रमुख मार्ग हैं - ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग। योगदर्शन योगाभ्यास के लिए एक पूर्ण मार्ग की चर्चा करता है जिसमें शरीर की महती भूमिका होती है।

अद्वैत-वेदान्त में शरीर को स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर के रूप में विभाजित किया गया है और इन शरीरों को क्रमशः पंचकोष-सिद्धान्त और चित्त की अवस्थाओं से जोडा गया है। जो इस प्रकार है -

शरीर	कोष	अवस्था
कारण शरीर →	आनन्दमय कोष →	सुषुप्ति अवस्था
सूक्ष्म शरीर →	विज्ञानमय कोष मनोमय कोष → प्राणमय कोष	स्वप्न अवस्था
स्थूल शरीर →	अन्नमय कोष →	जाग्रत अवस्था

इन तीनों अवस्थाओं के ऊपर तुरीय अवस्था है जो पूर्ण आनन्द की अवस्था है। अद्वैत-वेदान्त की प्रमुख रुचि ब्रह्मन् के स्वरूप पर चर्चा करना है। ब्रह्मन्/आत्मन् से इतर कोई भी सत् नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्मन्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही सत्य है। व्यावहारिक जगत् के प्रति ब्रह्मज्ञानी का तटस्थता का भाव होता है। चूँकि देह की चर्चा का सम्बन्ध व्यवहारिक जगत् से है अतः उसके प्रति तटस्थता का भाव होना स्वभाविक है।

विशिष्टाद्वैत (रामानुज) दर्शन में देह के प्रति एक सकारात्मक दृष्टि बन सकती है क्योंकि संसार का उपादान कारण ईश्वर है जो ईश्वर के अचित् तत्त्व से निर्मित है। लेकिन रामानुज भी दो प्रकार के अचित् तत्त्वों की बात करते हैं - वह अचित् जिससे बैकुण्ड आदि निर्मित होते हैं और दूसरे प्रकार के अचित् तत्त्व से संसार आदि। इस प्रकार यहाँ भी देह के प्रति नकारात्मक दृष्टि ही है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन के अनुसार यह शरीर दूषित तत्त्वों माँस, रक्त, अस्थियों से बना है और अशुद्ध है। यह शरीर उतना ही घृणित एवं अपवित्र है जितना मृत शरीर। विभिन्न प्रकार के दुःख, कष्ट, रोग, तृष्णा, वेदना का कारण यह शरीर है। यह शरीर मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। यहाँ भी देह के प्रति नकारात्मक दृष्टि पायी जाती है।

देह से सम्बन्धित चार्वाक दर्शन ही एकमात्र दर्शन है जो देह को महत्ता देता है। चार्वाक के अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र तन्त्र नहीं है। चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों के संयोग से होती है। चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है।

देह पर चर्चा आयुर्वेद में भी मिलती है लेकिन देह के विभिन्न अवयवों और उनके प्रकार्यों में एक वैज्ञानिक की जैसी रुचि होती है वैसी दार्शनिक की नहीं होती।

शरीर से सम्बन्धित इन विभिन्न वर्गीकरण और विवेचनाओं, जो काफी व्यापक हैं, के आधार पर निष्कर्ष के रूप में निम्न बातें कही जा सकती हैं - शरीर तत्त्व क्या है ? उत्पत्ति/जन्म के बाद शरीर का स्वरूप, मृत्योपरान्त शरीर का स्वरूप क्या है ? इन वर्गीकरणों में न केवल मानव शरीर की बात गई है वरन् मानवेतर शरीरों (जीवों एवं देवों के शरीर) के वर्गीकरण की बात भी कही गई है। वेदान्तीय वर्गीकरण को मनोदैहिक समग्रता के रूप में लिया जा सकता है अर्थात् जीवन्त शरीर (living-body) के रूप में। पंचकोष सिद्धान्त से शरीर के वर्गीकरण को जोडना शरीर की व्याख्या में अनुभव की प्रधानता को इंगित करता है। शरीर का कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के रूप में वर्गीकरण भेद सम्बन्ध की ओर इंगित करता है।

अन्त में देह पर उपरोक्त संक्षिप्त चर्चा के आधार पर निम्न दृष्टियाँ सामने आती हैं -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. नकारात्मक दृष्टि अर्थात् आत्मा की तुलना में देह हेय है। (जैन एवं बौद्ध)
२. साधन दृष्टि अर्थात् देह साध्य की प्राप्ति में एक साधन मात्र है। (योग एवं तन्त्र)
३. तटस्थ दृष्टि अर्थात् देह के प्रति तटस्थता का भाव। (अद्वैत वेदान्त)
४. साध्य दृष्टि अर्थात् देह ही साध्य है इसके अतिरिक्त अन्य कोई साध्य नहीं। (चार्वाक)

प्रो. मणि शर्मा
एवं
रूपाली श्रीवास्तव

शिक्षा संकाय
दयालबाग एज्युकेशनल इन्स्टिट्यूट
दयालबाग, आगरा - २८२००५

टिप्पणियाँ

१. अशोक कुमार लॉड, भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन पृ. १७३-१७४
२. ईशावास्योपनिषद् - (मन्त्र-१७) पृ. ४१
३. एस.एन. दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-१ पृ. १०३
४. वही, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-१, पृ. १९३
५. वही, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-१, पृ. २७९-२८०
६. ऐतरेयोपनिषद्,१.२.१,२,३, पृ. ३४-३७
७. कठोपनिषद्, २.२.७, पृ. १२३
८. धनश्यामदास मलकानी, वेदान्त ज्ञान मीमांसा, पृ. ३१-३३
९. वही, पृ. ३६-३७
१०. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी, पृ. ५३-५७
११. दत्ता, चटर्जी भारतीय-दर्शन, पृ. १२३
१२. नन्द किशोर देवराज, भारतीय दर्शन, पृ. १६०-१६१
१३. वही, पृ. ३९८
१४. मुण्डकोपनिषद् (३.१.१,२), पृ. ८३, ८४
१५. सदानन्द, वेदान्तसार पृ. ३७
१६. वही, पृ. ३७
१७. स्वामी पिताम्बरनन्द, *द कान्सेप्ट ऑफ बॉडी इन वेदान्त* (लेख)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैनदर्शन में नैगमनय और उसका विकास

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है। इसके पुरस्कर्ता जैन आचार्यों ने साहित्य की प्रत्येक विधा की तरह प्रत्येक दार्शनिक एवं तात्त्विक विषय पर गहन एवं स्वतंत्र विवेचन भी प्रस्तुत किया है। प्रमाण की तरह अनेक ग्रन्थों में स्वतंत्र एवं विविध विषयों के साथ 'नय' का विवेचन किया गया है। 'नय' को समझे बिना जैन आगम का हार्द हृदयंगम होना मुश्किल है और नय का सम्यक् स्वरूप जाननेवालों का उसमें प्रवेश सहज हो जाता है। वीरसेनाचार्य कहते हैं - (धवला-१/१/१, गा. ६८)

णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व जिनवरमदम्हि ।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार जिनतत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान करके मुमुक्षु मोक्षमार्ग में लगता है, उन तत्त्वों का अधिगम ज्ञान से होता है। यही ज्ञान अधिगम के उपायों को प्रमाण और नय इन दो रूपों में विभाजित कर देता है। अतः अधिगम के उपायों में प्रमाण के साथ नयों का भी निर्देश है। उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगमः' (सूत्र १.६) कहकर प्रमाण और 'नय' को ही तत्त्वाधिगम के मूल दो भेद बताये हैं।

'स्यात्' पद से मुद्रित परमागतरूप श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान एक प्रमाण है, तथापि उसके भेद नय हैं। इसी कारण श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहा गया है। ज्ञाता के अभिप्राय को भी नय कहा जाता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है, और नय अंशग्राही। प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ के एक अंश को 'नय' अपना विषय बनाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि जिससे वस्तु तत्त्व का निर्णय किया जाता है, उसे सम्यक् रूप से जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं तथा ज्ञाता का वह अभिप्राय विशेष 'नय' कहलाता है जो प्रमाण के द्वारा जानी गयी वस्तु के एक देश का स्पर्श करता है।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक १, दिसम्बर २००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्रों में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयों को मूल नय कहा है। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथों में निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो नय मुख्य रूप से प्रतिपादित हैं, जो प्रकारान्तर से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का ही दूसरा रूप हैं। शास्त्रीय ग्रंथों में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ एवं एवंभूत (तत्त्वार्थसूत्र १/३३) इस प्रकार नय के सात भेद माने हैं। इनमें इन सातों नय का विषय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। इस प्रकार प्रथम नैगम नय विषय को ग्रहण करने को दृष्टि से सबसे बडा व विस्तृत है।

नैगमनय के लक्षण को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। इसका विषय अत्यन्त विशाल होने से यह ज्ञाननय भी है और अर्थनय भी है। ज्ञाननय होने के कारण यह वस्तु की त्रिकाली पर्यायों को ग्रहण या संकल्प करने में समर्थ है। वस्तु में वे पर्याये भले ही विनष्ट हो चुके हों या अभी उत्पन्न नहीं हुए हों परन्तु यह नय सर्वगुणों की त्रिकाल गोचर पर्यायों को एक माला के रूप में गूँथकर उसे प्रस्तुत कर सकता है।

जैसे - हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है कि "आप किस काम के लिए जा रहे हैं ?" वह कहता है कि "प्रस्थ (अनाज नापने वाला लकडी का पात्र) लेने के लिए जा रहा हूँ।" यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है। केवल बनाने का संकल्प होने से उसमें (जिस काठ को लेने जा रह है उसमें) प्रस्थ व्यवहार किया गया है। इस प्रकार अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करना नैगमनय का कार्य है।

अर्थनय के अन्तर्गत इसे द्रव्यार्थिक के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसके अनुसार द्रव्य को सामान्य विशेषात्मक रूप से नैगमनय स्वीकार करता है। तथा, दो धर्म अथवा दो धर्मों अथवा एक धर्म और एक धर्मी में प्रधान और गौणता की विवक्षा करने को नैगम कहते हैं।

आगम काल से ही प्रसिद्ध इस नैगम नय की महत्ता पर विचार करते हुये जैन दार्शनिकों ने इस पर बहुत चिन्तन किया हैं और इसका एक निश्चित दिशा में विकास भी किया। अतः जैन दार्शनिकों के इस महत्त्वपूर्ण योगदान का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है।

नैगम नय का विकास

नयों का विकास आगम-काल से ही प्रारंभ हो गया था। यद्यपि भगवती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसे प्राचीन आगमों में सात नयों का उल्लेख नहीं है तथापि वहाँ द्रव्यार्थिक और भावार्थिक (पर्यायार्थिक) नयों की चर्चा उपलब्ध है।[१] अनुयोगद्वार सूत्र में सात नयों का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन सातों को मूलनय कहा है।[२]

इन सात नयों में प्रधान नैगम नय है। यहाँ हम उसी की चर्चा करेंगे। नैगम नय को विकास की दृष्टि से हम दो काल विभागों के माध्यम से समझ सकते हैं-(१) आगम युग तथा (२) दर्शन युग

(अ) आगम युग :

अनुयोगद्वारसूत्र में नैगमनय

अनुयोगद्वारसूत्र में नैगमनय के विषय में अनेक दृष्टियों से स्वतंत्र और मौलिक विवेचन किया गया है। इसके अनुसार जो अनेक मानों अर्थात् प्रकारों से वस्तु के स्वरूप को अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है, वह नैगमनय है।[३] नैगमनय को तीन दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया गया है।[४] (१) प्रस्थक दृष्टान्त, (२) वसति दृष्टान्त एवं (३) प्रदेश दृष्टान्त।

नैगमनय को समझाने के लिए प्रस्थक दृष्टान्त का प्रयोग तो परवर्ती दार्शनिकों ने खूब किया किन्तु वसति और प्रदेश दृष्टान्त इन दो दृष्टान्तों का कहीं अन्यत्र उल्लेख है, मुझे ऐसा अब तक ज्ञात नहीं हो सका।

(१) प्रस्थक दृष्टान्त

नैगमनय की दृष्टि से प्रस्थक तथा वसति पर विचार करते हुए अनुयोगद्वारसूत्र में नैगमनय के भी तीन प्रकारों का उल्लेख किया - (१) अविशुद्ध नैगमनय, (२) विशुद्ध नैगमनय (३) विशुद्धतर नैगमनय

इनमें कोई व्यक्ति प्रस्थक निर्माण हेतु काष्ठ लाने के लिए जंगल में जाता है। काष्ठ कारण है और प्रस्थक कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करने से वह कहता है, ''मैं प्रस्थक के लिए जाता हूँ'', यह 'अविशुद्ध नैगमनय' है।[५] (२) काष्ठ काटते समय ''मैं काष्ठ काट रहा हूँ''- यह निरूपण 'विशुद्ध नैगमनय' है।[६] यहाँ भी कारण में कार्य का उपचार है।[७] अविशुद्ध नैगमनय में गमन क्रिया और प्रस्थक में अतिव्यवधान है, इसलिए उसे अविशुद्ध माना गया है। काष्ठ कर्तन और प्रस्थक में कुछ निकटता है, इसलिए उसे 'विशुद्ध नय' माना गया है। (३) काष्ठ को तरासना, उकेरना और प्रमार्जित करना प्रस्थक निर्माण क्रिया के ही अंग हैं। इन क्रियाओं से प्रस्थक का अति नैकट्य होने के कारण इसे 'विशुद्धतरनैगमनय' की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है।[८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूत्रकार ने इसी संदर्भ में व्यवहार नय को भी स्वीकार कर लिया। चूँकि व्यवहार नय लोक व्यवहार को मान्य करता है इसलिए व्यवहार नय का दृष्टिकोण नैगम नय के समान ही है।[९] इससे यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ सूत्रकार नैगमनय और व्यवहारनय में कोई विशेष अन्तर महसूस नहीं कर रहे।

(२) वसति दृष्टान्त

प्रस्थक दृष्टान्त जैसी शैली दूसरे वसति दृष्टान्त में भी अपनायी गयी है, तथा वहाँ भी नैगम व्यवहार को एक माना है।

(३) प्रदेशदृष्टान्त

निरंश देश, निर्विभावी भाग, अविभागी परिच्छेद ये प्रदेश के पर्यायवाची शब्द हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव ये अखण्ड द्रव्य हैं। देश उनका कल्पित भाग है तथा प्रदेश उनका परमाणु जितना भाग है। सूत्रकार ने प्रस्थक और वसति दृष्टान्त से समझाते समय अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर का दृष्टिकोण सामने रखा था, किन्तु वे प्रदेश दृष्टान्त में स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर का दृष्टिकोण रखते हैं। नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को मान्य करता है, इसलिए धर्म आदि छह द्रव्यों के प्रदेश स्वीकृत करता है।[१०] यहाँ सूत्रकार ने नैगम नय से व्यवहार नय को पृथक् रखा है।

कसायपाहुड में नैगमनय

गुणधराचार्य द्वारा शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित कसायपाहुड में भी नय का विवेचन है।[११] यतिवृषभाचार्य ने कसायपाहुड के अभिप्राय को समझ कर कसायपाहुड चूर्णि की रचना की है, उसमें नैगमादि नयों को समझाया गया है। चूर्णिकार के अनुसार नैगमनय और संग्रहनय की अपेक्षा क्रोध कषाय द्वेष हैं, मान कषाय द्वेष है। माया कषाय प्रेय है और लोभ कषाय प्रेय है।[१२] यहाँ चूर्णिकार ने नैगमनय और संग्रहनय को एक अभिप्राय में लिया है। कषाय निक्षेपों का वर्गीकरण करते समय नैगमनय के संदर्भ में कहा कि नैगमनय आठों[१३] प्रकार के कषाय निक्षेपों को स्वीकार करता है। चूँकि नैगमनय भेद और अभेद अथवा संग्रह के द्वारा सर्व लोकवर्ती पदार्थों को विषय करता है अर्थात् समस्त लोकव्यवहार नैगमनय के आश्रित ही चलता है इसलिए उसमें सभी कषाय निक्षेपों का विषय होना स्वाभाविक है।[१४]

षट्खण्डागम में नैगमनय

धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त व भूतबली द्वारा शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित षट्खण्डाम नामक सिद्धान्त ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त है। इसमें चतुर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदना खण्ड तथा पंचम वर्गणाखण्ड में नैगमादि नयों का उल्लेख है। विभिन्न विषयों के प्रतिपादन में इनका सहारा लिया गया है।

षट्खण्डागम के चतुर्थ वेदनाखण्ड में वेदना निक्षेप अनुयोगद्वार के अन्तर्गत 'वेदना' शब्द के अनेक अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यह नय भेदों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इसलिए वेदना खण्ड में वेदना नय विभाषणता नामक द्वितीय अधिकार ही बना दिया है।[१५] वेदना नय विभाषणता अधिकार में इस बात का वर्णन किया गया है कि कौनसा नय किन वेदनाओं को स्वीकार करता है।[१६] नैगमनय, व्यवहारनय और संग्रहनय ये तीनों नय नाम वेदना, स्थापना वेदना, द्रव्य वेदना, भाव वेदना इन सभी वेदनाओं को स्वीकार करते हैं।[१७]

यहाँ नैगम, व्यवहार तथा संग्रह इन तीनों नयों को एक श्रेणी में तथा एक अभिप्राय से लिया है। एक बात और उल्लेखनीय है कि सूत्रकार ने नैगम के बाद संग्रह को न लेकर व्यवहार को लेने का क्रम रखा है, तथा व्यवहार के बाद संग्रह का क्रम रखा है। वेदनानामविधान अधिकार में कहा कि नैगम व व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना, दर्शनावरणीय वेदना, वेदनीय वेदना, मोहनीय वेदना, आयु वेदना, नाम वेदना, गोत्र वेदना और अन्तराय वेदना, इस प्रकार वेदना आठ भेद रूप है।[१८] यहाँ नैगम और व्यवहार को एक अभिप्राय में तो लिया ही है साथ ही क्रम भी पूर्ववत् ही रखा। इसी प्रकार सूत्रकार अनेकों स्थानों पर अपेक्षानुसार, आवश्यकतानुसार कहीं नैगम व्यवहार इन दोनों को ही समान अभिप्राय में लेते हैं तो कहीं नैगम, व्यवहार, संग्रह इन तीनों को ही समान अभिप्राय में ले लेते हैं लेकिन यहाँ एक बात और गौर करने लायक लगी कि कहीं भी वर्गीकरण करते समय अकेले नैगम नय के अन्तर्गत कोई भी विषय नहीं रखा। प्रत्येक स्थान पर व्यवहार अथवा संग्रह अथवा दोनों अवश्य ही नैगमनय के साथ रहते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में नैगमनय

आवश्यक निर्युक्ति में सात नयों के लक्षण देते समय वही गाथा उद्धृत की गयी है जो अनुयोगद्वार सूत्र में की गयी थी। इसके साथ एक विचित्र सिद्धान्त यह दिया गया है कि पहले सात नयों की आवश्यकता थी, किन्तु अब उनकी आवश्यकता नहीं है अथवा अधिक से अधिक प्रथम तीन नयों की ही आवश्यकता है क्योंकि पहले आगमों का विषयानुक्रम से विभाजन नहीं हुआ था जबकि अब आर्यरक्षित ने ऐसा विभाजन कर दिया है। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वक्तव्य का आशय स्पष्ट नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति में द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा व्यवहार और निश्चय के अतिरिक्त ज्ञाननय और क्रियानय का भी वर्णन है।[१९]

(आ) दर्शनयुग :

(१) तत्त्वार्थसूत्र :

दर्शनयुग में सर्वप्रथम उमास्वामि अथवा उमास्वाति (वि. १-३री शती) ने नयों की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में ही की। दिगम्बर परंपरा में स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामि ने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन सात नयों की चर्चा की है;[२०] किन्तु श्वेतांबर परंपरा में स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच ही नयों को स्वीकार किया।[२१] समन्तभद्र (वि. २-३ शती) ने नयों की चर्चा तो की है[२२] किन्तु नैगमादि सात नयों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

(२) सन्मतितर्क :

सिद्धसेन दिवाकर (वि. ४-५वीं) ने मूल तो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ये दो नय ही स्वीकृत किये हैं। शेष को भेद माना है।[२३] उन्होंने सन्मतितर्क-प्रकरण में नैगम नय को स्वीकार ही नहीं किया है। सिद्धसेन दिवाकर ने जैन आगमों में प्रसिद्ध सात नयों को स्वीकार न करते हुए उन्होंने संग्रहादि छह नय ही स्वीकृत किये हैं।[२४] दृष्टि का पृथक्करण और उसमें नयों का बँटवारा करने में सिद्धसेन की दो विशेषतायें सामने आयी। एक तो यह कि आगम प्रसिद्ध सात नयों को छह नयों में संकलित करना और दूसरी विशेषता यह है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार द्रव्यास्तिक दृष्टि की जो सीमा ऋजुसूत्रनय तक थी, उसके स्थान पर व्यवहारनय तक ही बाँधना।[२५] इन दो विशेषताओं के कारण सिद्धसेन का मन्तव्य ऐसा फलित होता है कि "नैगम कोई अलग और स्वतंत्र नय नहीं है, परन्तु संग्रह से एवंभूत तक के छः नय ही स्वतंत्र हैं और द्रव्यास्तिकवाद की मर्यादा व्यवहारनय तक ही है। ऋजुसूत्र से लेकर सभी नय पर्यायास्तिक नय की मर्यादा में आते हैं।

सिद्धसेन के पहले किसीने षट्नयवाद स्वीकृत नहीं किये। इसलिए सिद्धसेन को षड्नयवादी कहते हैं। इतना होते हुये भी इन्हीं सिद्धसेन ने नयों की संख्या सीमा को बाँधने की अनुमति नहीं दी, बल्कि यह कहा कि जितने भी वचन प्रकार हो सकते हैं उतने ही नय प्रकार भी हो सकते हैं।[२६]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) द्वादशारनयचक्र :

मल्लवादी (वि. ५-६वीं) ने सात नयों के स्थान पर निम्न बारह नयों की कल्पना की - १. विधिः, २. विधि-विधिः, ३. विध्युभयम्, ४. विधिः नियमः, ५. विधिनियमौ, ६. विधिनियमविधिः, ७. उभयोभयम्, ८. उभयनियमः, ९. नियमः, १०. नियमविधि, ११ नियमोभयम् और १२. नियमनियमः।[२७]

नयों में दो भेद द्रयार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। नैगमादि सातों नयों का समावेश भी उन्हीं दो नयों में होता है। मल्लवादी ने स्पष्ट किया है कि विधि आदि प्रथम के छह नय द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष पर्यायार्थिक नय हैं। नैगमादि सातों नयों का भी संबंध उन्होंने बतलाया तथा व्यवहार, संग्रह के बाद नैगम नय को तीसरे स्थान में रखते हुए विधि नियमौ तथा विधिनियमविधिः के अन्तर्गत रखा है।[२८]

(४) लघीयस्त्रय :

सामान्य रूप से आगमिक परम्परा में नयों के क्रम में सर्वप्रथम नैगमनय का उल्लेख किया गया है। हमने देखा कि सिद्धसेन ने इस नय को हीं स्वीकार नहीं किया। मल्लवादी ने नैगम नय को अपने बारह नयों में स्थापित करते समय चतुर्थ स्थान पर रखा, पर आचार्य अकलंकदेव (वि ७वीं) ने नैगम नय को स्वीकृत तो किया किन्तु नैगमनय को द्वितीय स्थान पर रखा और संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया।[२९]

इसका कारण यह हो सकता है कि आगमिक परम्परा में जो नयों का क्रम निर्धारित किया गया है, वह विषय की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं पूर्व-पूर्व का नय उत्तर-उत्तर नय में हेतु रूप दो दृष्टियों से व्यवस्थित है, किन्तु न्यायशास्त्र में समस्त विरोधियों के वादों का निराकरण करने के लिये समस्त पदार्थों के अस्तित्व के सूचक संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया।[३०] अकलंक ने नैगम की परिभाषा दी कि जो भेद और अभेद में से परस्पर एक को गौण और एक को प्रधान करके कहता है वह नैगमनय है और जो सर्वथा भेद को कहता है वह नैगमाभास है।[३१]

(५) तत्त्वार्थवार्तिक

आचार्य अकलंक के विषय में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि अकलंक ने लघीयस्त्रय नामक अपने स्वतंत्र ग्रंथ में तो यह क्रम बताया किन्तु जब वे तत्त्वार्थसूत्र पर ''तत्त्वार्थराजवार्तिक नाम से वार्तिक ग्रन्थ लिखते हैं, तब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वहाँ वही क्रम रखते हैं, जो तत्त्वार्थसूत्रकार ने रखा। वहाँ नैगम की परिभाषा लिखते हैं कि' अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय है।[३२] न्याययुग में आचार्य अकलंक तक नैगमनय के भेद प्रभेदों की चर्चा प्रारंभ नहीं हुयी थी।

(६) जयधवला टीका

वीरसेनाचार्य (वि. ८वीं) ने जयधवला में नैगमनय के (१) द्रव्य नैगम (२) पर्याय नैगम (३) द्रव्यपर्याय नैगम ये तीन भेद माने।[३३]

(७) तत्त्वार्थलोकवार्तिक

इसी चिन्तन को विकसित करते हुए आचार्य विद्यानंद (वि.९वीं) इन तीन भेदों के बाद इनका क्रमशः प्रभेद भी करते हैं। उसमें पर्याय नैगम के अर्थपर्याय नैगम, व्यंजन पर्याय और अर्थव्यंजनपर्याय नैगम ये तीन प्रभेद। द्रव्य नैगम के शुद्ध द्रव्य नैगम, अशुद्ध द्रव्य नैगम ये दो भेद, तथा तीसरे द्रव्यपर्याय नैगम के शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्य-व्यंजन-पर्याय नैगम ये चार भेद स्वीकार करके नैगमनय को नौ प्रकारों में विभक्त कर दिया।[३४]

(८) आलापपद्धति

देवसेनाचार्य (वि. ९९०) ने नैगम नय का कालकृत भेद कर दिया। वे भूत नैगम, भाविनैगम और वर्तमान नैगम इस प्रकार तीन भेद स्वीकार करते हैं।[३५] इनके पूर्व किसी ने भी इस दृष्टि से नैगम के भेद नहीं किये। सिद्धर्षि (वि. १०वीं) ने नैगम नय के अन्तर्गत सामान्य एवं विशेष दोनों को ग्रहण करने की बात कहीं।[३६]

(९) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र

माइल्लधवल (वि. ११वीं) ने देवसेनाचार्य का ही अनुसरण करते हुए भूत, भावि और वर्तमान ये नैगमनय के तीन ही भेद स्वीकारे।[३७]

इसके बाद वादिराज (वि. ११वीं)[३८], आचार्य प्रभाचन्द्र (वि. ११-१२वीं)[३९] वादिदेव (वि. १२वीं)[४०], लघु अनन्तवीर्य (वि. १२वीं)[४१], मल्लिषेण (वि. १४वीं)[४२], तथा उपाध्याय यशोविजय (वि. १८वीं)[४३] आदि विद्वनों ने नैगमनय के कोई भेद प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया, अपितु पूर्व स्थापित परिभाषाओं को ही पुनर्स्थापित किया है।

इस प्रकार नैगमनय के इस अध्ययन से हमें यह तथ्य ज्ञात होता है कि आगम युग से लेकर दर्शन युग तक नयवाद के विकासक्रम में नैगमनय का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रमशः विकास स्पष्ट दिखायी पडता है, जिसका तुलनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टियों से अति महत्त्वपूर्ण है।

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म . **कुमार अनेकान्त जैन**
तथा दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनूं ३४१३०६ (राजस्तान)

टिप्पणियाँ

१. से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ ''जीवा सिय सासता, सिय असासता? गोयमा। दव्वट्ठयाए सासता, भावट्ठयाए असासता। से तेणट्ठेणं गोयमा। एवं वुच्चइ जाव सिय असासता। **भगवती** (खण्ड-२), सम्पा. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति व्यावर, १९९१, सप्तमशतक, उद्देशक-२, पृ. १३५

२. से किं तं णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा-नेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूते। **अणुओगदाराइं**, सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, प्रका. जैनविश्वभारती संस्थान, लाडनं, प्र. सं. १९९६, तेरहवां प्रकरण, सूत्र-७१५ पृ. ३७६

३. णेगेहिं माणेहिं मिठाइत्ति पेणमस्स य निरूत्ती। **अनुयोगद्वार**, गाथा-१३६पृ. ४६७

४. से किं तं नयप्पमाण ? नयप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा पत्थगदिट्ठंतेणं वसहिदिट्ठंतेणं - पएसदिट्ठंतेणं **अणुओगदाराइ**, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-५५४ पृ. २९९-३००

५. से किं तं पत्थगदिट्ठंतेणं ? पत्थ्गदिट्ठंतेणं-से जहानामए केइ पुरिसे परसुंगहाय अडविहुत्तो गच्छेज्जा, तं च केइ पासित्ता वएज्जा-केहिं भवं गच्छसि ? अविसद्धो नेगमो भणति-पत्थणस्स गच्छामि। **अणुओगदाराइं**, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-५५५, पृ. ३००

६. तं च केइ छिदमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं छिंदसि ? विसुद्धो नेगमोभणतिपत्थगं छिंदामि। वही, सूत्र-५५५ पृ. ३००.

७. अविशुद्ध नैगमनय और विशुद्ध नैगमनय इन दोनों की तुलना सांख्य के सत्कार्यवाद से की जा सकती है।

८. तं च केइ तच्छेमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं तच्छेसि ?विसुद्धतराओ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नेगमोभणति पत्थणं तच्छेमि। तं च केइ उक्किरमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं उक्किरसि ? विसुद्धतराओ नेगमो भणति-पत्थगं उक्किरामि। तं च केइ लिहमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं लिहसि ? विसुद्धतराओ नेगमो भणति पत्थगं लिहामि। एवं विसुद्धतरागस्त नेगमस्स नामाउडिओ पत्थगो। वही, सूत्र-५५५ पृ. ३००.

९. एवमेव ववहारस्स वि। वही, सूत्र-५५५, पृ. ३००.

१०. पएसदिट्ठंतेणं-नेगमो भणति-छण्हं पएसो, तं जहा-धम्मपएसो अधम्मपएसो आगासपएसो जीव पएसो खंध पएसो देसपएसो। **अणुओगदाराइ**, सूत्र-५५७, पृ. ३०२.

११. पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्सि कस्स व णयस्स। दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायदे को कहिं वा वि॥ कसायपाहुड सूत्र, गुणधराचार्य, पेजदोसविहत्ती, सम्पा. पं. हरिलाल जैन, वीर शासन संघ, कलकत्ता, १९९५, गाथा-२१, पृ. ३४.

१२. तं जहा-पेणम संगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो। मायापेज्जं, लोहो पेज्जं। कसायपाहुडसूत्र पर यतिवृषभाचार्य चूर्णि, सूत्र -८९, पृ. ३४.

१३. नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रत्यय, समुत्पत्ति, आदेश, रस तथा भाव ये आठ प्रकार के कसाय निक्षेप कषाय पाहुड में गिनाये गये हैं। देखें, वही, **चूर्णिसूत्र**-३९, पृ. २०.

१४. णेणमो सव्वे कसाए इच्छदि। वही, **चूर्णिसूत्र**-६३, पृ. २४.

१५. वेदणात्ति। तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति वेदणणिक्खेवे वेदण्णयविभासणाए...। **षट्खण्डागम**, द्वितीय वेदना अनुयोगद्वार, सं. ब्र. सुमति बाई शहा, श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण (सातारा), चतुर्थ वेदना खण्ड-१९६५ पृ. ५३४.

१६. वेयण-णयविभासणंदाए को णओ काओ वेयणाओ इच्छदि। **षट्खण्डागम**, वेदना खंड, वेदनानयविभाषणता, सूत्र- १, पृ. ५३६.

१७. णेगम-ववहार-संगहा सव्वाओ। वही, सूत्र-२, पृ. ५३७.

१८. णेगम-ववहाराणं णाणावरणीयवेयणा दंसणावरणीयवेयण वेयणीय-वेयणा मोहणीयवेयणा आउववेयणा णामवेयणा गोदवेयणा अंतराइवेयणा। **षट्खण्डगम**, वेदनाखंड, वेदना नाम विधान अधिकार, सूत्र-१, पृ. ५३७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१९. 'Here a curious sounding theory is also propounded, viz, that the seven nayas needed to be employed in former times but they need not be employed now (at the most the first three nayas need to be employed now), the reason being that in former times the Agamic texts had not been divided subjectwise as is the case now after Aryaraksita has executed such a division. The exact import of the theory is not clear but what is really important is the incidental two-fold division of nayas into Dravyarthika and Paryayarthika. For this is an obviously logical division and as such as found so prominent a support at the hands of the authors of the Age of logic; (certainly all this cannot be said about thesevenfold division of nayas. Another twofold division of nayas-also somewhat important - is that into vyavaharanaya and niscayanaya; but a third division, viz-that into jnananaya and Kriyanaya has played no important role in the development of the naya-doctrine— **Jain Ontology**, Dr. K. K. Dixit, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1971; p. 78.

२०. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः। तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामि, सं. पं. फूलचन्द्रसिद्धान्तशास्त्री, गणेशवर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी, १९९१, अध्याय।, सूत्र-३३.

२१. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, सं. पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८५, प्रथम अध्याय सूत्र-३४ पृ. ११२.

२२. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः। सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः। आप्तमीमांसा, समन्तभद्र-ग्रंथवाली, वीरसेवा मं. ट्रस्ट, दिल्ली, का. १०४, पृ. १०१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२३. तित्थयरवयणसंगह-विसेस पत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं। **सन्मति प्रकरण**, प्र. काण्ड, गा. ३.

२४. दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ। पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो । वही, गाथा-४.

२५. मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो। तस्स उ सद्दाईया साहणसाहा सुद्दुमभेया। वही, गाथा-५

२६ जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया। जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया । वही, तृतीयकाण्ड, गाथा-४७.

२७. तयोर्भगांः १. विधिः, २. विधिविधिः, ३. विधेर्विधि-नियमम्, ४. विधेर्नियमः, ५. विधि-नियमम्, ६. विधिनियमस्यविधिः, ७. विधि-नियमस्य विधि-नियमम्, ८. विधिनियमस्य नियमः, ९. नियमः, १०.नियमस्थ विधि, ११. नियमस्य विधिनियमम्, १२. नियमस्य नियमः। द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमोविभागः पृ. १०.

२८. **आगम युग का जैनदर्शन**, पं. दलसुख मालवणिया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९९०, पृ. ३११-३१२.

२९. शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः। भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः। लघीयस्त्रय, द्वितीयनप्रवेश, पंचमनयपरिच्छेद, कारिका-३२.

३०. संग्रहः सर्वभदैक्यमभिप्रैति सदात्मना। ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृते। वही, कारिका-३८.

३१. अन्योन्यगुणभूतैकभेदप्ररूणात्। नैगमोर्थान्तरत्वोक्ता नैगमाभास इष्यते। वही, कारिका-३९.

३२. अर्थ संकल्पमात्र ग्राही नैगमः। अकलंदेव कृत **तत्त्वार्थराजवातिर्क**, महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९९३, प्रथमभाग, प्रथम अध्याय, सूत्र-३३, पृ. ९५.

३३. द्रव्यार्थिक नैगमः पर्यायार्थिक नैगमः द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमश्चेत्येवं त्रयो नैगमः। जयधवला, वीरसेनाचार्य, भाग-१, प्रकरण-२०२, पृ. २२१-२२.

३४. विविधस्तावन्नैगमः। पर्यायनैगमः, द्रव्यनैगमः, द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्र प्रथमस्त्रेधा।अर्थपर्यायनैगमो व्यंजनपर्यायनैगमोऽर्थव्यंजनपर्याय-नैगमश्च इति। द्वितीय द्विधा। शुद्ध द्रव्यनैगमः, अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। तृतीयश्चुतर्धा। शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगमः अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्यायनैगमः, अशुद्ध द्रव्य व्यंजनपर्यायनैगमश्चेति, नवधानैगमः साभास उदाहृतः परीक्षणीयः। आचार्य विद्यानंदकृत **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**, प्र.पं. वर्धमानशास्त्री, कल्याण भवन, सोलापुर, १९५६, श्लोक-२७ पृ. २३४.

३५. नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकाल भेदात्। **आलापपद्धति**, संपादक, ब्रधर्मचन्द शास्त्री, भारतवर्षीय अनेकान्तविद्वत परिषद्, १९९०, सूत्र-६४, पृ. १३

३६. ये परस्परविशकलितौ सामान्य विशेषाविच्छन्ति तत्समुदायरूपो नैगमः। **न्यायावतार**, सिद्धर्षिविवृत्ति, संपादक ए. एन. उपाध्ये, जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९७१, का. २९ पर टीका, पृ. ८५.

३७. णिप्पण्णमिव पयंपदि भाविपदत्ते खु जो अणिप्पण्णं।
अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भाविणसगमुत्ति णओ॥
णिव्वत्त अत्थकिरिया, वट्टणकाले तु जं समायरणं।
तं भूदणइगमणरां जहदिणं णिव्वुओ वीरो॥
पारद्धा जा किरिया पचणविहाणादि कहइ जो सिद्धा।
लोएसु पुच्चमाणो भण्णइ तं वट्टमाणणयं॥
द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, संपादक पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९९९, गाथा २०५, २०६, २०७ पृ. १११-११२.

३८. तत्र यस्मिन दर्योर्भेदगमनं स नैगमः नैकं गमो नैगमः इति व्युत्पत्तेः यथा गुणगुणिनौ क्रियातद्धन्तौ सामान्यविशेषौ च भिन्नाविति। **न्यायविनिश्चयविवरण** (भाग-२), संपादक महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्र. सं. १९५४ तृतीय प्रवचन प्रस्तावः, पृ. ३३६.

३९. तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, तृ. भाग, नयविवेचन, पृ. ६५८.

४०. धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नैगमः। **प्रमाणनयतत्त्वालोक**, सातवा परिच्छेद, सूत्र-७, पृ. १३६.

४१. अन्योन्यगुण-प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणौ नैगमः। नैकं गमो नैगम इति निरुक्तः। **प्रमेयरत्नमाला** षष्ठः समुद्देशः पृ. ३४५.

४२. धर्मयोर्धर्मिणोधर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपर्जनभोवेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। **स्याद्वादमंजरी**, सम्पादक - डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पृ. २४८. श्री. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास; चतुर्त सं. १९७९.

४३. तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयपरोऽध्यसायो नैगमः। **जैनतर्कभाषा**, अनुवाद-शोभाचन्द्रभारिल्ल, प्रका. त्रिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अहमदनगर, १९६४, परिच्छेद, पृ. ६०.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी जैन दृष्टि
(जैन-पुराणों के सन्दर्भ में)

छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व जैनदर्शन को पल्लवित होने का काल उदयकाल था। यह वही काल है जब बौद्धदर्शन की भी नींव पड चुकी थी। दोनों ही दर्शन पुरोहितों व ब्राह्मणवादी वैदिक कर्मकाण्डों के विरोध में प्रतिक्रिया.स्वरूप स्थापित हो रहे थे। उस काल में समाज संरचना का वैदिक आधार वर्णव्यवस्था का रूप विकृत हो चुका था। व्यक्तियों के मध्य विषमता भयावह रूप में थी। इसका एक कारण धार्मिक कर्मकाण्डों में पशुबलि व अर्थ की प्रधानता थी। इस जटिलता के कारण ये कर्मकाण्ड जनसामान्य से परे उच्च वर्ग तक सीमित हो गये। इस काल में वर्ण दंभ से परिपूर्ण उच्चवर्णी निम्नवर्णों के प्रति हेय दृष्टि रखना अपना अधिकार समझते थे।

वर्ण व्यवस्था वैदिक आर्यों की उपज थी। यहाँ प्रारम्भ में दो वर्ण थे - आर्य वे जो गुणी थे और म्लेच्छ जो इसके विपरीत थे। आगे चलकर ब्राह्मणों ने इसे अपने अनुकूल चार वर्णों के रूप में स्थापित कर लिया। इसकी आधारभित्ति को जैन और बौद्ध जैसे वेद-विरोधी आन्दोलन भी नहीं हिला सके। इसका प्रमाण है कि काल प्रवाह के अनेक समाज सुधारवादी आन्दोलनों को अपने आप में समेटे वर्ण व्यवस्था आज भी विद्यमान है। इस व्यवस्था के अन्दर पनपे वर्ण भेदों ने जातियों का विकृत रूप ले लिया। किन्तु वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में पुराणों में जैनाचार्यों ने मानव-मानव को समान मानकर कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था स्थापित करने का जो नवीन प्रगतिशील विचार प्रस्तुत किया है वह अविस्मरणीय है।

प्रारम्भ में जैन और बौद्धधर्म को वर्णव्यवस्था तथा जातिवाद स्वीकार नहीं था। वे इसके विरोधी थे। कालान्तर में जैनों ने इस देश की मुख्यधारा में शामिल रहते हुए परिस्थितियों से समझौता कर समन्वित सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम क्षत्रिय और द्वितीयतः ब्राह्मण को स्थान दिया। यह जानने के पूर्व की वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी जैन विचार क्या है ? वर्ण व्यवस्था को परम्परागत वैदिक अवधारणा व इनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विरुद्ध जैन आपत्तियाँ ज्ञात करना आवश्यक है।

वैदिक वाङ्मय और ब्राह्मण ग्रन्थों में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। ये हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से एवं अन्तिम वर्ण शूद्र की उत्पत्ति पैर से बताई गई है।[१] इसी आधार पर ब्राह्मण को श्रेष्ठता प्रदान की है। इसी अनुसार समाज में कर्म विभाजन किया गया। इस व्यवस्था की आलोचना का प्रथम बिन्दु तो वही परम्परागत है कि चूँकि ब्राह्मण ही वेदों के ज्ञान के अधिकारी थे, इसलिये उन्होंने स्वयं को वर्ण व्यवस्था में प्राथमिकता दी।

जैन आचार्य ब्राह्मण प्रदत्त इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने ब्राह्मण की ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति और इसलिये श्रेष्ठ होने को चुनौती दी है। इस सम्बन्ध में कुछ आधारभूत प्रश्न इस प्रकार हैं- क्या ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है अथवा नहीं ? यदि नहीं, तो इनसे ब्राह्मण की उत्पत्ति कैसे होती है। यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है, तो क्या वह केवल मुख में है अथवा सम्पूर्ण शरीर में है ? यदि सम्पूर्ण शरीर में है तो उनके शरीर के अलग-अलग हिस्सों से जन्मे अन्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के मध्य श्रेष्ठता को लेकर भेद क्यों है ? यदि केवल मुख में ही ब्राह्मणत्व है तो शरीर के अन्य प्रदेशों में शूद्रत्व का प्रसंग आता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा के पैर आदि शूद्र की ही भाँति अबन्ध (अछूत) ठहरती है।[२]

इस प्रकार जैन आचार्य व्यक्ति को जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानने का विरोध करते हैं। उनकी यह दृढ मान्यता है कि "व्यक्ति जन्मना नहीं, कर्मणा महान्" होता है। तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने गुणों और कर्मों के आधार पर विभिन्न वर्णधर्मी होता है। 'भगवज्जिनसेनाचार्य' लिखते हैं कि, जाति नामक, नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न मनुष्यजाति एक ही है, किन्तु जीविका के भेद से वह चार भागों (वर्णों) में विभक्त है।[३] वही जाति बडी है जो संयम, नियम, शील, तप, दान, दम, दया आदि अस्तित्व रखती है । यहाँ 'जाति' शब्द ब्राह्मण आदि जाति के अर्थ में नहीं है, एक विशिष्ट कर्म के अर्थ में है।[४]

यद्यपि कतिपय जैन विचारकों का यह मानना है कि जैन आगम साहित्य में वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी उल्लेख नहीं है।[५] किन्तु जैन आगमों में बंमण, खत्तिय, वइस्स तथा सुद्द नाम के चार वर्णों का उल्लेख है।[६] कर्म एवं आजीविका से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई है। 'महापुराण' में उल्लेख है कि प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था नहीं थी। इसे स्पष्ट करने के लिए सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का जैन चित्र देखना आवश्यक है। प्रारम्भिक अवस्था में इस भोग भूमि के निवासी (आर्य)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपनी दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों के माध्यम से पूर्ण किया करते थे। संग्रह की प्रवृत्ति का यहाँ पूर्ण अभाव है। श्रम, व्यापार आदि की भी इसलिये आवश्यकता नहीं थी। इस स्वर्णयुग में भेदभावरहित, सानन्द जीवन व्यतीत करने के उपरान्त अन्त में वे स्वर्गगामी होते थे।

संग्रह (परिग्रह) न होने के कारण पापकर्म व अपराध नहीं थे। सम्भवतः इसलिये मनुष्यों के मध्य वर्ण व्यवस्था, जातिगत भेदभाव व आर्थिक भेदभाव न होने के कारण वह युग सामाजिक समता का युग था। इस कृतयुग को हम 'आदिम साम्यवाद' कह सकते हैं। दीर्घकाल तक यह व्यवस्था सुचारू रही। काल परिवर्तन के साथ ही यह व्यवस्था संग्रहवृत्ति (परिग्रह) के कारण भंग हो गई। अब जीविकोपार्जन हेतु व्यवक्तियों के श्रम व व्यापार जैसे कर्म करना प्रारम्भ हुए। फलस्वरूप विभिन्न आजीविका सम्बन्धी कर्म करने वाले विभिन्न वर्ण के हुए एवं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रारम्भ हुई।[७]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जैन आचार्यों ने प्रचलित सामाजिक भावनाओं के अनुरूप वर्णव्यवस्था की महत्ता को स्वीकार तो किया, किन्तु वर्णव्यवस्था की प्रचलित वैदिक अवधारणा में संशोधन करते हुए क्षत्रियों को प्रधानता प्रदान करते हुए उन्हें प्रथम व ब्राह्मणों को दूसरे स्थान पर स्थापित किया। वैश्य और शूद्र का क्रम यथावत् रखा। जैन दर्शन के समकालीन बौद्ध भी इस व्यवस्था से विचार साम्य रखते हैं।[८]

वर्णव्यवस्था को संशोधित करने का प्रथम कारण यह परिलक्षित होता है कि प्राकृतिक अवस्था की समाप्ति के पश्चात् समाज में संग्रहवृत्ति (परिग्रह) बढ गई। इसका दुष्परिणाम असुरक्षा और अराजकता थी। इस भयावह स्थिति से उबारने व व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व निर्वहन खत्तिय (क्षत्रिय) ने किया। इसलिए प्रथम क्षत्रिय व द्वितीय ब्राह्मण है। एक अन्य कारण महावीर का स्वयं क्षत्रिय होना क्षत्रियवर्ण को प्राथमिकता प्रदान करने हेतु पूर्वाग्रह भी हो सकता है।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि जैनाचार्यों ने ब्राह्मणों, पुरोहितों के विशेषाधिकार को प्रथमतः चुनौती दी। उन्होंने ब्राह्मण द्वारा अपराध किये जाने पर दण्डित करने का प्रावधान भी किया।[९] आजीविका के अनुसार वर्णव्यवस्था स्थापित करने के परिप्रेक्ष्य में उनकी स्पष्ट मंशा समाज में आजीविका की समुचित व्यवस्था करना है। यदि कोई व्यक्ति अपना कर्म उचित रूप से नहीं करता है तो उसे दण्डित किया जा सकता है,[१०] ताकि वर्णसंकरता रोकी जा सके।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस व्यवस्था की स्थापना के पीछे जैनाचार्यों का समतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। उनका यह कदम सामाजिक न्याय स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण है। जैनाचार्यों की यह स्पष्ट सोच है कि वर्ग-संघर्ष को रोकने का उपाय श्रम विभाजन है।[११] कुशलतापूर्वक कार्यसम्पादन, अहस्तक्षेप प्रेरित कर्म आधारित वर्णव्यवस्था का जैन दृष्टिकोण सामाजिक एकता स्थापित करने की दिशा में भारतीय मनीषा को एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

रीडर, दर्शन-विभाग, डा. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे
डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. ऋग्वेद, २४.
२. प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, ४८३-४८७ एवं न्यायकुमुचन्द, पृ. ७७८-७७९. उद्धृत अमृतलाल जैन : परिसंवाद, पृ. ३०३.
३. पद्मपुराणम् (११.२०३).
४. तत्त्वार्थसूत्र : १० वीं सूत्र.
५. फूलचन्द्र, वर्ण, जाति और धर्म, पृ. ११७.
६. जगदीश चन्द्र जैन, : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. २२३.
७. महापुराण, ३८-४५, उद्धृत देवीप्रसाद का लेख : परिसंवाद, पृ. ३०३.
८. दीघनिकाय, : अगसुत्त, पृ. २४४.
९. महापुराण, पृ. ७०, १५५.
१०. हरिवंशपुराण, १४-७; महापुराण, १६-२४८.
११. महापुराण, पृ. २९.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गीता में मनोविश्लेषण के तत्त्व

आजतक मानवजाति ने सत्य के रहस्योद्घाटन के क्रम में जितनी खोजें की हैं उसमें गीता की खोज सर्वाधिक अनुपम और विलक्षण है। जिस ऐतिहासिक घटना के बीच श्रीकृष्ण के मुख से यह रहस्य और विज्ञान निःसृत हो रहा है वह भी अपने आप में अनूठा ही है। युद्ध का मैदान, दोनों पक्षों की सेनाएँ एक दूसरे का प्राण लेने को आतुर और उसी परिस्थिति में कृष्ण-अर्जुन के बीच का यह संवाद, निश्चित रूप से युद्ध के मैदान से ऐसा आध्यात्मिक संवाद का उदाहरण मिलना मानवता के इतिहास में दुर्लभ तो है ही, अचिंतनीय भी है।

लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व गीता कृष्ण के श्रीमुख से कही गयी और तब से अनवरत इसपर अनेकानेक समीक्षाएँ-व्याख्याएँ लिखी गयीं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य के अतिरिक्त लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द, गांधी, राधाकृष्णन्, विनोबा भावे प्रभृत अनेक तत्त्वचिंतकों ने इसमें अपने-अपने अन्तर्दर्शन के तत्त्व को पाया। मानव विज्ञान के उच्चतम बिन्दुओं के कतिपय सूत्रों की खोज इसके अन्तर्गत की गयी। समकालीन युग में मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान हुए हैं। सिगमंड फ्रायड, कार्ल गुस्ताफ युंग, एडलर, विलियम जेम्स, सलीवान, फ्रोम इत्यादि मनोविश्लेषकों ने मनुष्य पर अनेक परीक्षण कर कुछ अद्भूत मान्यताएँ स्थापित कीं। गीता का संवाद कृष्ण-अर्जुन के बीच का है। अर्जुन साधारण मानवचित्त में उठने वाले द्वन्द्व से ग्रासित अन्वेषक है तो कृष्ण परमसत्य के साक्षात्कार से अभिभूत परमपद को प्राप्त परमात्मा! कृष्ण की अमृतमयी वाणी अर्जुन जैसे साधारण मनस्तापी की चित्तभूमि में क्रमशः उठनेवाली सारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है। इसलिए आवश्यक है कि समकालीन मनोविश्लेषण में स्थापित मान्यताओं का सूत्र गीता में खोजा जाय।

यदि यह कहा जाय कि एक सुन्दर स्त्री की हँसी पूरे महाभारत पर छाई है तो अनुचित नहीं होगा। सारा महाभारत का युद्ध और गीता, द्रौपदी के केन्द्र से आरंभ होता है। द्रौपदी का चीरहरण एक हारे हुए, व्यंग्य के शिकार, पुरुष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मन के कारण है। सुन्दरतम नारी द्रौपदी का यह व्यंग्य कि "अंधे का पुत्र अंध ही होता है" इसकी प्रतिध्वनि और पुनः सार्वजनिक रूप से दरबार में वस्त्रहरण करने के आयोजन की घटना की अनुगूँज को महाभारत जैसे महाकाव्य के प्रतीकात्मक अर्थों की व्याख्या, गहरे मनोविज्ञान की ओर संकेत करता है।

गीता की यह अद्भुत कथा एक अंधे आदमी की जिज्ञासा से शुरू होती है। यह स्मरणीय है कि धृतराष्ट्र अंधा है लेकिन उसका मन उत्सुक, पीडित और आतुर है यह जानने को कि युद्ध के मैदान पर क्या हो रहा है। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हैं लेकिन वे इन्द्रिय से अंधे न होते हुए भी मानसिक रूप से रुग्ण हैं। इसलिए जिस भूमि पर लाखों हत्याओं का आयोजन हुआ उसे वे धर्मक्षेत्र कहते हैं। (धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे..... ।।) आज भी रुग्ण मनसूचित्त के कारण मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर युद्ध के अड्डे बन गये हैं। वास्तविकता है कि मनुष्य के अवचेतन में युद्ध की जो पिपासा, विनाश की जो आकांक्षा है और जो पशुत्व छिपा है, वह धर्मस्थल में भी युद्ध की तैयारी कर लेता है। इसलिए गीता जैसे धर्मग्रन्थ की शुरुवात अंधे आदमी के प्रतीक से हुअी है।

प्रसंग है कि अर्जुन युद्ध भूमि पर गया। उसने स्वजन, गुरुजन और मित्रों को देखा तो शोक और विषाद से भर गया। चित्त उसका हिंसक था। युद्धभूमि पर दुर्योधन के साथ-साथ युधिष्ठिर, द्रोणाचार्य, भीष्म, अन्य स्वजन, मित्र और कुटुम्ब थे। उनका भी चित्त ममत्व और हिंसा से भरा हुआ था, लेकिन विषाद सिर्फ अर्जुन को ही हुआ। यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सब समानताओं के बावजूद अर्जुन विचारवान् है। मनोवैज्ञानिक मान्यता है कि विचार द्विविधा में डालता है। यह अवस्था 'स्किजोफ्रेनिक' की अवस्था है, जिसमें व्यक्तित्व विखंडित हो जाता है। अर्जुन यदि इस अवस्था में युद्ध करेगा तो या तो वह मैदान से भाग जायेगा या बेमन से लडेगा। नीत्शे ने कहा है कि मनुष्य एक तनाव है वह या तो पशु हो जाय या आनन्द को पाये। गीता में तीन प्रतीक बहुत ही मनोवैज्ञानिक हैं - अर्जुन मनुष्य का, दुर्योधन पशु का और कृष्ण परमात्मा का।

विषाद, शोक और विचार के द्वन्द्व से युक्त अर्जुन की भावदशा को देखकर कृष्ण उसे सांख्य-योग सम्बधी बातें विस्तार से बतलाते हैं। अर्जुन अपने व्यक्तिमत्व-भेद (Type of Personality) के अनुसार सहज प्रश्न पूछते हैं, "यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है और जो पाने योग्य है वह मिला ही हुआ है, जीवन की मुक्ति यदि ज्ञान पर निर्भर है तो मुझ गरीब को इस महाकर्म में क्यों धका दे रहे हैं" (अ. ३ श्लो १) यदि इस तर्क को मनोविश्लेषक की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि युद्ध की विभीषिका और स्वजन मृत्यु के भय की अर्जुन न्यायोचित और बुद्धिसंगत व्याख्या करता है। वस्तुतः अर्जुन युद्ध रूपी कर्म से भागना चाहता है, इसलिए उसे सांख्य सही प्रतीत होता है। सिगमंड फ्रायड ने इस सत्य को बहुत ही प्रगाढ रूप से स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि मनुष्य में इच्छा, वासना पहले आती है, तर्क और सिद्धान्त बाद में। वह जो करना चाहता है उसके लिए तर्क खोज लेता है। इस प्रकार अपने कार्यों को वह सदैव युक्ति संगत बनाने का प्रयास करता रहता है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि कृष्ण अर्जुन के इस प्रश्न के बाद भी अपना संवाद जारी रखते हैं। जबकि अर्जुन के इस कथन के बाद आगे और कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों के वर्णव्यवस्था के मनोवैज्ञानिक महत्त्व का उल्लेख प्रासंगिक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विभाजन का महत्त्व श्रम-विभाजन की दृष्टि से जितना नहीं है उससे अधिक व्यक्तित्व-भेद से है। अर्जुन का व्यक्तित्व-भेद क्षत्रिय का है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषक कार्ल गुस्ताफ युंग ने व्यक्तियों के दो मोटे विभाजन किए हैं - एक को वह बहिर्मुखी (Extrovert) और दूसरे को वह अन्तर्मुखी (Introvert) कहते हैं। लेकिन सामान्य मनुष्य न तो आत्यन्तिक रूप से अन्तर्मुखी होता है और न बहिर्मुखी, बल्कि दोनों का मिश्रण है। इस रूप में योग प्रस्तावित है बहिर्मुखी के लिए और सांख्य अन्तर्मुखी के लिए।

अपने संवाद को आगे बढाते हुए कृष्ण प्रेमपूर्ण शब्दों में कहते हैं, "हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी..." (अ.३, श्लो.३) यहाँ "हे निष्पाप अर्जुना !" सम्बोधन बहुत मनोवैज्ञानिक अर्थ रखता है। मनोविज्ञान की मान्यता है कि चित्त में जितना ज्यादा पाप या अपराध (guilt) हो उतना ही अनिश्चय (indecision) पैदा होता है। निष्पाप अर्जुन कहकर कृष्ण मनोवैज्ञानिक रूप से अर्जुन को भीतरी आन्दोलन से मुक्त करना चाहते हैं।

कृष्ण कहते हैं, जो मूढ (नासमझ) इन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन में काम के चिंतन को चलाये जाता है वह पाखंड और अहंकार में पतित हो जाता है (अ.३, श्लो. ६) फ्रायड से हजारों वर्ष पूर्व कृष्ण मूढ की परिभाषा करते हैं कि... जो व्यक्ति अपने इन्द्रियों को दबाता है... क्योंकि इन्द्रियों के दमन से मन नहीं दबता बल्कि वह और प्रबल हो जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में मूढ के लिए 'स्किजोफ्रेनिक' और 'सिजायड' का प्रयोग किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कृष्ण कहते हैं- जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है (अ.३, श्लो.७) साधारणतया जो इन्द्रियों का गुलाम होता है, ऐसे व्यक्ति को कृष्ण निकृष्ट कहते हैं। इसके विपरीत श्रेष्ठ वह है जो मन को रूपान्तरित करके इन्द्रियों को वश में कर लेता है। यह अवस्था मनोवैज्ञानिक चिंतन से परे की अवस्था है। फ्रायड के बाद यह समझाया गया कि वासनाएँ कभी मन के पीछे चल ही नहीं सकती। वासनाओं से मुक्ति संकल्प के द्वारा सम्भव ही नहीं है। लेकिन भारतीय चिंतन इसे अपूर्ण मनोविज्ञान मानता है। वह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी अनुभववादी विचारों में इन्द्रिय और मन से परे जाने की बात को असम्भव माना गया है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक डेविड ह्यूम ने अपने संस्मरण में लिखा है- "मैंने डेल्फी के मंदिर में लिखा हुआ वचन पढा-'अपने को जानो (Know Thy Self)' तब से अपने भीतर जाकर कोशिश करता हूँ अपने को जानने की, लेकिन मुझे स्वयं के रूप में कुछ पता नहीं चल पाता । जब भी मिलता है तब कोई इच्छा, विचार, वासना, स्मृति या संकल्प ही।"

स्वधर्म और परधर्म पर अनेक प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि मनोविज्ञान की स्पष्ट धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजता है। इसी निजता को समझकर कर्मों का चुनाव करना चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि प्रत्येक बालस्कूल में मनोवैज्ञानिक होना चाहिए जो बच्चों के झुकाव (aptitude) का पता लगाए और यदि इसे कृष्ण की भाषा में कहें तो स्वधर्म का पता लगाये।

अध्याय चार में कृष्ण 'स्वाध्याय यज्ञ' की चर्चा करते हुए कहते हैं-
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८
स्वाध्याय का अर्थ है 'स्व' अर्थात् स्वयं का अध्ययन। स्वयं का अध्ययन सारे मनोविश्लेषण की आधारभूमि है। हमारे स्वयं के अन्दर क्या-क्या है, यह दूसरा नहीं जान सकता। हम दूसरे व्यक्ति के केवल बाह्य आचरण ही जान सकते हैं। मानव जैसे-जैसे आधुनिक होता जा रहा है उतना ही उसके व्यवहार को देखकर अन्तस् की गहराई का पता लगाना कठिन हो गया है। स्वाध्याय का तात्पर्य है हम अपनी आंतरिकता से स्वयं परिचित हो सकते हैं, स्वयं के साथ साक्षात्कार कर सकते हैं। इस स्वाध्याय यज्ञ के महत्त्व को फ्रायड के अतिरिक्त एडलर, युंग इत्यादि सभी मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक चिकित्सा के लिए भी महत्त्वपूर्ण माना है। इसका पहला चरण है कि जो इस यज्ञ में उतरता है उसे,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरा उसके सम्बन्ध में क्या सोचता है उसको पहले अपने से अलग कर लिया जाय। दूसरे चरण में जो-जो हमने अवचेतन में दबाया है उसे उभाड ले। सामान्य तौर पर हम अपने चित्त के जो बहुत से हिस्से सामाजिक या अन्य भय से भयभीत होकर गहरे में दबा दिये हैं उनको प्रकट करने में भय लगेगा। उदाहरण के लिए यदि कोई ब्रह्मचर्य की धारणा से भर गया हो तो वह अपनी कामवासना को इतना दबा देगा कि वह उसका साक्षात्कार न कर पायेगा। तीसरे चरण में हम अपने सम्बन्ध में जो जो प्रतिमायें (images) निर्माण किये हैं उनको भी स्वयं से अलग कर लेते हैं। इस स्वाध्याय यज्ञ में अपने द्वारा निर्मित प्रतिमा को जला देना पडता है। अपने सम्बन्ध में निर्मित प्रतिमा से मुक्त होना कठिन ही नहीं दुरूह भी है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसके भीतरी मन ने वे सब पाप न किये हो, जो किसी भी आदमी ने पृथ्वी पर किया है। स्वाध्याय यज्ञ का सार है कि जो व्यक्ति अपनी समस्त कुरूपता को जानने में समर्थ हो जाता है, वह उससे मुक्त हो जाने में भी समर्थ हो जाता है।

सुखी अवस्था को कैसे प्राप्त किया जा सकता है उसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोन से समझाते हुए कृष्ण कहते हैं-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं सः युक्तः सः सुखी नरः॥ (अ.५, श्लो.२३)

अर्थात् शरीर के नाश होने से पूर्व जिसने काम-क्रोध के वेग को सहज कर लिया अर्थात् जीत लिया, वही इस लोक में योगी और सुखी है।

काम इस जगत् में एक विराट घटना है। काम का अर्थ सिर्फ यौन ही नहीं, इसका बृहत् अर्थ है 'अपने से इतर में सुख लेने की आकांक्षा।' काम के साथ-साथ क्रोध शब्द का प्रयोग मनोवैज्ञानिक अर्थ रखता है। जब कभी कोई मेरे काम में अर्थात् दूसरे में सुख लेने में बाधक बनता है तो स्वाभाविक रूप से क्रोध उत्पन्न होता है। इसके साथ-साथ यदि काम में कोई रूकावट नहीं हो तो अंततः विषाद उत्पन्न होता है। मनवैज्ञानिकों का मानना है कि मनुष्य काम के लिए ही जीवित है। फ्रायड ने इस सम्बन्ध में अनेक अनुसंधान किये। उनका निष्कर्ष है कि हमारी चौबीस घंटों की जो दौड है उसके केन्द्र में कहीं न कहीं काम ही प्रेरक है। फ्रायड के अतिरिक्त मनोचिकित्सक फ्रेंकू का प्रयोग उल्लेखनीय है- क्रोध से भरे हुए एक व्यंक्ति को फ्रेंकू कुर्सी पर ब्रिठाता है, उसे सम्मोहित करता है और रूमाल दिखाता है। उससे पूछता है कि आँखें मूँद कर बताओ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि तुम्हें सबसे पहले क्या ख्याल आता है ? और वह बताता है- "I remainded of sex" (मुझे सैक्स का ख्याल आया) फिर उसे कभी किताब, घंटी इत्यादि को दिखाता है और उसके ख्याल के विषय में प्रश्न करता है- जबाब वही मिलता है।

मनोविद् का मानना है कि यदि हम भी अपना अन्तर्विश्लेषण करें तो पायेंगे कि काम की अन्तर्धारा हमारे मनःपटल पर पूरे समय चलती रहती है। कृष्ण का सुझाव फ्रेंकू के शोध से आगे का है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति काम और क्रोध के वेग के साथ अलिप्त होकर खडा हो जाता है, जिसे काम आन्दोलित नहीं करता और जिसे क्रोध अग्नि की लपटों में नहीं डालता, ऐसा व्यक्ति यहाँ भी और परलोक में भी सुख को उपलब्ध होता है।

अद्भुत मनोवैज्ञानिक क्रम में कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं-

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ (अ.६, श्लो. २)

संकल्प को त्यागनेवाला ही योगी और संन्यासी है। इससे पूर्व के श्लोक में कृष्ण कहते हैं, इच्छायें छोड दो चूँकि इच्छाओं के बाद ही वासनायें निर्मित होती हैं इसलिए उन्होंने संन्यासी अथवा योगी के लिए संकल्प त्याग की बात कही। संकल्प त्याग का तात्पर्य 'मैं' (ego) धारणा का अभाव। 'मैं' की मनोवैज्ञानिक खोज बतलाती है कि 'मैं' वस्तु नहीं बल्कि सम्बन्ध है। एक सर्वेक्षण 'मैं' का देखें -

मैं, सडक पर चलने वाला,
मैं, बाथरूम में,
मैं, कार्यालय में,
मैं, बच्चे के साथ.....

इस 'मैं' का अनुपेक्षण से पता चलता है कि 'मैं' की सूक्ष्म अन्तर्धारा है और इसके प्रति यदि सजग हुआ जाय तो पता चलेगा कि यही अन्तर्धारा संकल्प पैदा करती है। बिना संकल्प के वह अन्तर्धारा वास्तविक (actualise) नहीं हो सकती। इसी अन्तर्धारा का दूसरा नाम अहंकार (ego) है। यह जो संकल्पों और इच्छाओं की अन्तर्धारा है उसे यदि विसर्जित कर दिया जाय तो स्वभावतः संन्यास उपलब्ध होता है। इसलिए संन्यस्त अवस्था की व्याख्या एक विशुद्ध मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान की उपलब्धि है चित्त का रूपान्तरण।

इसके बाद के श्लोक में कृष्ण कहते हैं- जो समत्व बुद्धि को उपलब्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होगा वही योगी है ।(अ.६, श्लो.३) थियोडोर रेक अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक हुए । उसने लिखा है कि मन के दो सूत्र हैं- इनफेचुऐशन और फ्रस्ट्रेशन (Infatuation & frustration), गीता की भाषा में कहें तो आसक्ति और विरक्ति। उनके अनुसार इन दो अतियों के बीच ही मन डोलता रहता है। इन दो के बीच डोलने वाले मन को ही संकल्पात्मक कहा गया है। जहाँ संकल्प होता है वहाँ विकल्प भी मौजूद रहता है। यही फ्रायड के सुख-दुःख सम्बन्धी विचार का आधार भी है। जब आप संकल्प और विकल्प में किसी एक को चुनते हैं तो चित्त में उत्तेजना शुरू हो जाती है। उत्तेजना जब चुनाव का आधार बनती है तो विषाद को हम निमंत्रण दे डालते हैं। यही विषाद और दुःख पुनः विपरीत को चुनने के लिए उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार जिसका हम अनुभव कर लेते हैं उससे मन ऊब जाता है, इसके विपरीत जिसका अनुभव नहीं है उसके लिए लालायित रहते हैं।

फ्रायड ने अपने अन्वेषण के क्रम में कहा कि जितना मैंने समझा है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि इच्छाएँ दुःख में ले जाती हैं। उनके अनुसार सुख है ही नहीं। अन्ततः दुःख ही दुःख है। आप अधिक से अधिक सहने योग्य दुःख को चुने। इसके लिए इन्होंने 'unhappiness' शब्द का प्रयोग किया।

फ्रायड की इस धारणा को कृष्ण आंशिक मानते हैं। कृष्ण के अनुसार यह सत्य है कि इच्छाओं में सुख सम्भव नहीं है, लेकिन इच्छाओं के बिना मनुष्य सम्भव है। इच्छाओं के बिना सुख की कल्पनातीत वर्षा शुरू हो जाती है। यह उपलब्धि समत्व योग से सम्बद्ध है जिसमें आदमी सुख और दुःख जैसे अतियों के बीच समत्व स्थापित कर लेता है। समत्व बुद्धियोग सार है।

रूस के एक मनोवैज्ञानिक पावलव ने मनुष्य के ग्रन्थियों पर अनेक प्रयोग किए। उनका कहना है कि आदमी के किसी विशेष ग्रन्थि को अलग कर दिया जाय तो उस इन्द्रियों से सम्बन्धित क्रियाऐं समाप्त हो जाती हैं। इन्द्रियों के पास हारमोन्स का संग्रह है यही हमसे धक्के देकर काम करवा लेती है। जब ये सक्रिय नहीं रहती तो हम विशेष प्रकार के काम नहीं कर सकते। कृष्ण पावलव के अध्ययन की व्याख्या कुछ विशिष्ट शैली में करते हैं। उनका कहना हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ अपने अनुसार काम करवाती हैं वह अपना शत्रु तथा जो इन्द्रियों को अपने आदेश से चलाते हैं वह अपना मित्र है।

योग का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। योग को 'चित्तवृत्ति का निरोध'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहा गया है। कृष्ण कहते हैं- यत्रो परमतं चित्तं निरुद्धं योग सेवया.. (अ.६, श्लो.२०) साधारणतः चित्तवृत्ति के निरोध का अर्थ दमन समझा जाता है। निरोध का गहरा अर्थ है वृत्तियों के साथ साक्षात्कार। वृत्तिनिरोध का अर्थ है कि वृत्ति की इतनी गहरी समझ हो जाय कि पुनः वृत्ति का होना असम्भव हो जाय। वह मनोवैज्ञानिक परिस्थिति है कि हम जब किसी वृत्ति के साथ गहरा साक्षात्कार कर लेते हैं तो वह छूट जाता है।

योग और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जिन सामग्रियों और स्थितियों की चर्चा कृष्ण ने की है वह बहुत गंभीर मनोवैज्ञानिक खोज का परिणाम है। भारतीय चिंतकों ने अपने लम्बे अनुभव के माध्यम से यह जाना कि कुश, मृगछाला, समतल भूमि इत्यादि योग के लिए उपयोगी हैं। समतल भूमि में सिद्धासन मुद्रा में बैठने से गुरुत्वाकर्षण बल का प्रभाव शरीर पर बिल्कुल कम हो जाता है। इस पर कई मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो चुके हैं। इंस अवस्था में चित्त बिल्कुल शांत हो जाता है तथा शारीरिक विद्युत शक्ति का संचार उर्ध्व गति में होना संभव हो जाता है। आज वैज्ञानिक शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि मृगचर्म विद्युत् का कुचालक है। योग के समय शरीर में उत्पन्न होने वाले विद्युत तरंगों के लिए कुचालक वस्तु उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है। योग ने अनेक आसन खोजें हैं जो इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने में अद्भुत रूप से सहयोगी हैं। फ्रायड के अनुयायियों ने शरीर में अनेक ऐसे केन्द्रों की खोज की जिनको मात्र दबा देने से अनेक बुनियादी प्रवृत्तियों में अन्तर पड जाता है। योगासन में बैठने से शरीर की विशेष इन्द्रियाँ खास कर कर्मेन्द्रियें शिथिल पड जाती हैं।

योग की आधारभूत शिक्षाओं के सम्बन्ध में विस्तार से बात किये जाने पर अर्जुन वही पूछ रहा है जो हम सब भी पूछना चाहेंगे। अर्जुन पूछते हैं- हे मधुसूदन ! आप कहते हैं तो ठीक होगा कि योग की अवस्था में परम आनन्द होता है। मुझे भी आकर्षित कर रहा है कि उस आयाम में यात्रा करें, लेकिन मन बडा चंचल है, इसलिए समझ नहीं आता कि इस चंचल मन के साथ कैसे स्थिर स्थिति पायी जा सके। इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दर्शाता है कि यह अर्जुन का ही नहीं पूरे मनुष्य जाति के मन का प्रश्न है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य उल्लेखनीय है कि मन के सम्बन्ध में जो भी हम जानते हैं, स्वभावतः हम उसी जानने के भीतर सोचते हैं। हमने मन को कभी स्थिर नहीं जाना तो यह तर्कपूर्ण और उचित है कि मन की स्थिरता संभव नहीं है। यह उल्लेख भी प्रासंगिक है कि व्यवहारवादी मनोविज्ञान की जो त्रुटियाँ हैं वही त्रुटि अर्जुन भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर रहा है। अनुभव के आधार पर वह यहाँ तक तो ठीक कह रहा है कि मन चंचल है, लेकिन यह कहना कि मन की स्थिरता असंभव और अकल्पनीय है, उचित नहीं है। जो हमारे अनुभव में नहीं है उस सम्बन्ध में विधायक वक्तव्य देना गलत ही नहीं, खतरनाक भी है। इसी गलती के कारण धर्म और विज्ञान में संघर्ष होता रहा है।

आठ लम्बे अध्यायों की चर्चा के बाद कृष्ण श्रद्धा के सूत्र पर विचार करते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं कि अब मैं तुझे दृष्टिदोषरहित व्यक्ति के लिए रहस्य की बातें कहूँगा। (अ. ९ श्लो. ४,५,६) यह स्वभाविक है कि जगत् को हम जिस दृष्टि से देखते हैं, जगत् की प्रतीति वैसी ही हो जाती है। मनोविद् इसे 'गेस्टाल्ट' कहते हैं। उनका कहना है कि हम जिस बात पर ध्यान देते हैं हमें वही दिखाई पडने लगता है। कृष्ण प्रसन्न होकर इस सूत्र में अर्जुन से कहते हैं- "अब मैं तुझे दृष्टिदोषरहित जानकर रहस्य की बातें कहूँगा। आध्यात्मिक अनुभव के परमसाक्षात्कार के लिए जितने विधि हैं उसमें प्रवेश का यही मार्ग है।" बुद्धि विकल्पों से परे होने पर ही पराभौतिक जगत् की बातें कही और समझी जा सकती हैं। गीता जैसे गहन संवाद के लिए गुरु और शिष्य के बीच एक गहरी आत्मीयता, अपनापन चाहिए। यह श्रद्धा की अवस्था है। कार्ल गुस्ताफ युंग ने अपने मनोविज्ञान को 'एक होने का विज्ञान' (A theory of Individuation) कहा है। यही एक होने की स्थिति जहाँ उपलब्ध होती है उसी आत्मीयता के बीच रहस्यपूर्ण संवाद संभव है।

श्रद्धा जैसी पवित्रतम और अस्पृश्य उपलब्धि को अर्जुन में फलित हुआ जानकर कृष्ण उस गोपनीय बातों की ओर संकेत करते हैं जिसे बुद्धि अपनी विकल्प के माध्यम से नहीं जान सकती है। वस्तुतः बुद्धि की यह नियति है वह विकल्पों के माध्यम से ही जानती है। विज्ञान के नियम बुद्धि आधारित हैं, अतः विज्ञानेतर बातें बुद्धि से ऊपर उठने के बाद ही समझ में आ सकती हैं। जब अर्जुन श्रद्धा को उपलब्ध होता है तो कृष्ण उन गोपनीय बातों को आगे बढाते हैं जो अर्जुन के हृदय में उतर सकें। अब कृष्ण कहते हैं- मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह जगत् परिपूर्ण है, सब भूत मुझमें स्थित हैं लेकिन मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (अ.९, श्लो. ४,५,६) यहाँ अनेक आत्मविरोधी बातें हैं। अब यह जगत् है व्यक्त लेकिन कृष्ण के अनुसार मेरे अव्यक्त का अभिव्यक्त (menifestation)। यह बात तर्कबुद्धि से परे की बात है। यही बात सगुण और निर्गुण के विवाद का कारण भी है। लेकिन इस रहस्य का पता मनोविज्ञान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को भी चला है। फ्रायड ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में अनुभव किया कि आदमी के भीतर जीवन की लालसा के साथ-साथ मृत्यु की लालसा भी है। आरंभिक अन्वेषण का उनका निष्कर्ष था कि मनुष्य में खास चीज है 'लिबिडो' (जीवेष्णा) लेकिन अंतिम क्षणों में उन्होंने मृत्यु की लालसा को भी जाना। जीवन और मृत्यु दोनों विपरीत हैं और फ्रायड स्वयं भी इस बात से परेशन थे क्योंकि यह बुद्धि विकल्प तर्क से परे की बात थी। बाद में अनेक मनोविदों ने इसे स्वीकार किया कि जिससे हम प्रेम करते हैं उससे घृणा भी करते हैं। प्रेम और घृणा एक दूसरे के विपरीत नहीं। कृष्ण यही कहते हैं कि जहाँ-जहाँ वैपरित्य दृष्टिगत हो वहाँ मैं ही हूँ। यह इन्द्रियातीत अतिक्रमण की क्षमता की स्थिति में ही संभव है, अतः यह गुह्यतम भी है।

समत्व योग के सम्बन्ध में कृष्ण कई जागतिक बाते कहते हैं। समता का बोध श्रेष्ठतम योग है। यह महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में है कि यह सामान्य मनःस्थिति के विपरीत है। ऐसी स्थितियों का अवबोध मनोविज्ञान से परे होने पर ही संभव है। सामान्य व्यक्तियों के मनोविज्ञान को समझे बिना उससे परे होनें की बात समझ में आ ही नहीं सकती। साधारणतया जब कभी हम दूसरे के सम्बन्ध में निर्णय लेते हैं तो अपने सादृश्य से नहीं लेते। यदि हम कोई बुरा काम करते हैं तो उसका औचित्य निर्धारण कर लेते हैं, लेकिन जब दूसरा करता है तो उसे अनुचित समझ लेते हैं। मन के तल पर यह व्यापार चलता ही रहता है। कृष्ण कें समत्व की धारणा तब पैदा होती है जब हम मन से ऊपर उठ जाते हैं। यह निरहंकार के साथ पैदा होता है। इसके बाद महाकरुणा उत्पन्न होती है, इसलिए कृष्ण उसे महायोगी कहते हैं।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपियांति परांगतिम्।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।। (अ.९, श्लो. ३३),

अर्थात्, हे अर्जुन स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले जो कोई भी हों वही मेरे शरणागति प्राप्त कर परमगति को प्राप्त करते हैं।

इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द स्त्री, वैश्य इत्यादि से जो अर्थ अभिप्रेत है वह प्रचलित अर्थ से भिन्न है। भारतीय बुद्धि ने मनुष्य का जो विभाजन किया है उसमें स्त्री और पुरुष पहला विभाजन है। जो प्रणाली आत्मा के रहस्य की खोज में है उसके लिए पुरुष और स्त्री प्रतीक है। स्त्री अर्थात् स्त्रैण व्यक्तित्व जो मात्र प्रतीक्षा कर सकता है। इसके विपरीत पुरुष व्यक्तित्व खोज कर सकता है। विगत पाँच हजार वर्षों में गीता के बाद आधुनिक युग में कार्ल गुस्ताफ़ युंग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने स्त्री और पुरुष के इस मानसिक भेद को समझने की गहरी चेष्टा की है। उनके अनुसार कोई भी पुरुष 'पूर्ण पुरुष' और कोई भी स्त्री 'पूर्ण स्त्री' नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति 'सह-यौनिक' (Bi-sexual) है। दोनों यौन सभी में वर्तमान हैं। उनके अनुसार स्त्रैण से अर्थ है- ऐसा मन जो कुछ भी करने में रुचि नहीं लेता है, वह ज्यादा से ज्यादा समर्पण कर सकता है। कृष्ण के अनुसार वे भी मुझे उपलब्ध हो जाते हैं। यह भी स्मरणीय है कि यौगिक दृष्टि से शूद्र और वैश्य जाति नहीं बल्कि व्यक्तित्व-भेद है। इसीलिए भारतीय साहित्य में कहा गया है कि सभी व्यक्ति जन्म से शूद्र होते हैं। शूद्र व्यक्तित्व भेद के आधार पर प्रथम है। वह शरीर के आसपास जीवित रहता है। वैश्य वह है जो मन के आसपास जीवित रहे, क्षत्रिय जो शरीर और मन से ऊपर उठकर आत्मा के पास जिये और ब्राह्मण जो आत्मा से भी ऊपर उठकर ब्रह्म में जीवित रहे। ये व्यक्तित्व के चार मनस् प्रकार हैं। कृष्ण कहते हैं स्त्री, शूद्र और वैश्य सभी मेरे शरणागत होकर परमगति को प्राप्त होते हैं।

दशम अध्यायं के आरंभ में कृष्ण कहते हैं कि इस बुद्धियोग के द्वारा जो प्रज्ञा प्रकट होती है उससे सारा अज्ञान रूपी अंधकार मिट जाता है। वस्तुतः हम लोग ज्ञान और अज्ञान का प्रचलित अर्थ करते और समझते हैं। ईश्वर और धर्म सम्बन्धी वक्तंव्य के लिए यह अधिक अनुचित हो जाता है। हमारी अनुभूति ईश्वर, धर्म, ज्ञान, अज्ञान के सम्बन्ध में उस रटन्त संस्कार जैसे है जिसको रूसी मनोवैज्ञानिक पावलव 'कन्डीशन्ड रिफलेक्स' कहते हैं। इसमें एक रोटी कुत्ते को दी जाती है और उसी के साथ घंटी बजती है। रोटी के साथ कुत्ते का लार टपकता है। पन्द्रह दिन के बाद घंटी बजने के साथ कुत्ते को लार टपकने लगता है। तथाकथित तौर पर हम सब धर्म सम्बन्धी शब्दों के साथ संस्कारित हो जाते हैं। कृष्ण ने ऐसे तथाकथित धर्म सम्बन्धी प्रचलित शब्दों को अज्ञान कहा है, जो बुद्धियोग रूपी ज्ञान से मिट जाता है।

अर्जुन कहते हैं- हे भगवान् ! आप परब्रह्म, परमधाम एवं परम पवित्र हैं क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष एवं देवों का आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। ऋषिदेव नारद तथा ससति और देबल ऋषि तथा महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति ऐसा कहते हैं। और हे केशव ! आपके लीलामय रूप को न देव और न दानव जानते हैं (अ.१, श्लो. १२,१३,१४)। अर्जुन की यह श्रद्धामयी बातें सामान्य मनुष्य की प्रतीति जैसी हैं। वास्तव में अर्जुन की यह अभिव्यक्ति यदि अनुभवात्मक होती तो गीता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहीं समाप्त हो जाती। अर्जुन अपने अचेतन के तल से यह बात कहता है। कृष्ण के सम्बन्ध में उसने जो कुछ भी कहा है वह उसकी अहंकार का द्योतक है। इन कथनों का उसकी आन्तरिक अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं है बल्कि इसके लिए वे ऋषिजन, नारद, असित, देवल ऋषि और व्यास को साक्षी मानते हैं। कृष्ण को परब्रह्म उसने इसलिए कहा कि उपरोक्त ज्ञानियों और कृष्ण के कथनों में समानता है। दूसरे श्लोक में वे कहते हैं कि आप भी मेरे प्रति ऐसा कहते हैं। इसमें अर्जुन का अहंकार ध्वनित होता है। जबकि योग के अर्थ में अहंकार के विनाश के बाद ही ऐसा वक्तव्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में कबीर की अनुभूति है, "हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराय, बूंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाय।" मनोविश्लेषक बताता है कि आप उसे ही मानते हैं, जिसपर आपको संदेह है। मानना और न मानना वहीं संभव है जहाँ प्रत्यक्षानुभव नहीं हो। जो आपके प्रत्यक्ष का विषय है उसे मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः जिसकी मान्यता मानने के क्रम में जितनी कमजोर होगी वह उतना ही मदान्ध होगा। इसलिए कमजोर आस्था वाले लोग ज्यादा हठधर्मी होते हैं। इसी का परिणाम है कि तथाकथित धार्मिकों द्वारा विपरीत शास्त्रों को पढने की मनाही की जाती है और इसी धारणा से संकीर्णता और अनुदारता पैदा होती है। अर्जुन कुछ इसी परिस्थिति में है। उनके वक्तव्य से कुल इतना ही पता चलता है कि उसको अभी सत्य से साक्षात्कार नहीं हुआ है, सिर्फ कृष्ण द्वारा कहे गये शब्दों तक उसकी समझ सीमित है।

धीरे-धीरे कृष्ण के परमात्म्य प्रभाव से अर्जुन के मनस्चित्त में रूपान्तरण प्रगाढ होता गया उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व क्रमशः समपर्ण की ओर बढ रहा है। अर्जुन कहते हैं- पितासि लोकस्य चराचरस्य... प्रसिद्ध देवेश जगन्निवास। "हे विश्वेश्वर आप इस चराचर जगत् के पिता और गुरू से भी बडे एवं अति पूजनीय हैं..... शरीर को चरणों में रखकर क्षमा चाहता हूँ।" पश्चिम में दो मनोविद् हुए- लेंगे और विलियम जेम्स। उन्होंने एक सिद्धान्त विकसित किया जिसे 'जेम्स-लेंगे' सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मन और शरीर जुडे हुए हैं। हम हँसते हैं, इसलिए प्रसन्न होते हैं। हँसी पहले, प्रसन्नता बाद में। आमतौर पर लोक समझते हैं कि प्रसन्नता के कारण हँसी है। लेकिन लेंगे प्रश्न करते हैं कि आप बिना हँसे प्रसन्न होकर दिखा दीजिए। अर्जुन की भाव दशा 'जेम्स-लेंगे' सिद्धान्त के अनुकूल है। श्रद्धा की यह अभिव्यक्ति क्षमायाचना के लिए है। अर्जुन कहते हैं सब भाँति आपके चरणों में शरीर रखकर माफी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

माँगता हूँ। सम्पूर्ण शरीर का चरणों में समर्पण तभी सम्भव है जब श्रद्धा की धारा रोम-रोम में बहने लगे। वे यह भी कहते हैं कि अतीत में मैंने जो कुछ किया है वह बोझ जो मेरे ऊपर है, उस बोझ को मैं आपके चरणों में छोड देता हूँ। यह स्मरणीय है कि कृष्ण का अर्जुन के प्रति सम्बोधन- 'हे निष्पाप अर्जुन !' अब फलित हुआ। सारा अपराध, सारा पाप कृष्ण के चरणों में समर्पित करने योग्य अर्जुन हो गया। मन-विज्ञान, योग-तंत्र और अध्यात्म के लिए यह एक विराट घटना है इस घटना क्रम के बाद अर्जुन परमप्रेम को उपलब्ध होने की स्थिति में आ गया।

गुणत्रय-विभाग योग को समझाने के बाद कृष्ण अर्जुन से बोले- जिसका मूल ऊपर और शाखा नीचे है, ऐसे संसाररूप पीपल का वृक्ष अविनाशी है, जिसके पत्ते वेद कहे गये हैं। उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है। इस काव्यमय भाषा में तत्त्वज्ञान का रहस्य सम्पूर्ण भारतीय चिंतन पद्धति का सार है। पश्चिमी दृष्टि, जो विकासवाद को सही मानती है उसके लिए यह सूत्र उल्टा लगेगा। भारतीय दृष्टि कहती है परमात्मा प्रथम है, संसार, माया अर्थात् पतन है। हम जिस मूल स्रोत से आये हैं उससे ऊपर उठने का कोई उपाय नहीं।

इस सूत्र का प्रायोगिक अर्थ अमरीकी मनोचिकित्सक जैनोब ने अपने 'प्राइमल थेरेपी' में किया है। यह स्मरणीय है कि उन्हें गीता के सूत्र की जानकारी नहीं थी। वह अपने प्रयोग में लोगों को अंधेरे कमरे मे लिटा देता है, आँखें बंद कर उसे पीछे की स्मृतियों में लौटने के लिए उत्प्रेरित करता है। पीछे लौटने के क्रम में उसे बचपन के जीवन तक स्मृति में ले जाया जाता है और यदि कोई इसमें गहरा उतर जाय और जन्म के समय के पहले रुदन तक पहुँच जाय तो वह पूर्ण स्वस्थ और शांत हो जाता है। मूल अवस्था तक पहुँचने की यह थिरेपी इस सूत्र के रहस्य की ओर संकेत करती है।

लेख की सीमाओं की विवशता बृहत् स्पष्टीकरण में जाने से रोकती है। इस विषय पर व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है। भारतीय चिंतन का दृष्टिकोण सदैव समग्र रहा। वह अपने अध्ययन को किसी विशिष्ट विभाग के अन्तर्गत ही नहीं देखते बल्कि उसमें समग्रता है। इस रूप में कपिल, शंकर, कणाद, पंतजलि, कृष्ण, बुद्ध, नागार्जुन और महावीर के चिंतन में समकालीन पाश्चात्य अध्ययन के अनेक सूत्रों का सुगमतापूर्वक अन्वेषण किया जा सकता है। कृष्ण-अर्जुन का गीतासंवाद साधारण पशुतल, मानवतल और ईश्वरतल तक पहुँचने की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्भुत यात्रा है। इस यात्रा में मनोवैज्ञानिक खोजों के आजतक के प्रयास के रहस्य उपलब्ध हैं। ऐसा संभव है कि मनोविश्लेषण की खोजें कल गीता के सारे रहस्य के नजदीक पहुँच जाय और तब गीता विश्वज्ञानकोष में एक महत्त्वपूर्ण आयाम बन जायेगी। तब यह कथन अतिश्योक्ति नहीं होगा कि कृष्ण मानवता के इतिहास के सबसे विशिष्ट मनोवैज्ञानिक थे।

सर्वनारायण मिश्र

शोध छात्र,
दर्शनशास्त्र विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा (बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूल्य-दृष्टि से जुडी नैतिक-प्रक्रिया का प्रश्न : विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण

कोई भी व्यक्ति एवं समाज अपने अस्तित्व की सार्थकता का बोध चाहता है और इसके लिये जो भी आदर्श या मूल्य उसके द्वारा निर्धारित किये जाते हैं उन्हें प्राप्त करना वह अपना ध्येय समझता है। यह ध्येय मूल्य-दृष्टि कही जा सकती है। इन मूल्यों का अर्जन करना ही सामान्यतः नैतिकता या नैतिक प्रक्रिया है।

कई चिन्तक सनातन मूल्यों को धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखते हैं और उनके अर्जन की वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया तथा व्यवहार पूर्ण उपयोगिता को उससे पृथक् कर देते हैं। इससे आदर्श या मूल्यों में और नैतिक सभ्यता के मध्य एक विभाजन-सा हो जाता है तथा मूल्य-दृष्टि मात्र मानसिक (चिन्तन) बनकर रह जाती है। व्यक्ति एवं समाज का व्यवहार पूर्ण भौतिक-सामाजिक जीवन नैतिक सभ्यता के बाहर या फिर उसके अन्तर्गत मान लिया जाता है। इस प्रकार का विभाजन सुविधा की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है परन्तु इसका आत्यन्तिक महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के विभाजन को आत्यन्तिक मान लेने के कारण अध्ययनकर्ता स्वयं को कला, दर्शन, धर्म, इतिहास, साहित्य आदि विषयों तक ही सीमित रखते हैं और जीवन के व्यावहारिक नैतिक मूल्य-बोध को जीवन प्रक्रिया से बाहर मान लेते हैं। इस प्रकार से आदर्श या मूल्य-दृष्टि केवल मानसिक चिन्तन तक सीमित हो जाती है और उनका व्यक्ति के यथार्थ सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। विचार और व्यवहार (सिद्धान्त एवं आचरण) में असंगतियाँ-विसंगतियाँ विकसित होती हैं। अतः आदर्शों या मूल्यों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विचार को स्वीकार करने से पूर्व प्रत्येक को- व्यष्टिगत तथा समष्टिगत रूप में यह समझना आवश्यक है कि मूल्य या आदर्श मात्र मूल्य-दृष्टि ही नहीं है, अपितु मूल्य-निष्ठा भी है। यह मूल्य-निष्ठा विचार मात्र नहीं है वरन् व्यक्ति तथा समाज से जुडी आचरण प्रकिया भी है। इस प्रकार मूल्यनिष्ठा की व्यवहारगत आचरण प्रक्रिया को ही नैतिक-प्रक्रिया कहा जा सकता है और नैतिक-प्रक्रिया ही सामान्य शब्दों में नैतिकता है।

जगत् में चेतना के समग्र विकास का अर्थ है विचार एवं अनुभूति- दोनों का

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक १, दिसम्बर २००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समन्वयपूर्ण विकास; एकांगी विकास नहीं। अंतः जब तक हमारा चिन्तन एवं सहज अनुभूतियाँ मेलपूर्ण नहीं हो जातीं तब तक मूल्य दृष्टि, मूल्य निष्ठा और नैतिकमूल्य प्रक्रिया अपूर्ण ही रहते हैं। अतः मानव जीवन से सम्बद्ध तीनों पक्षों- यथा ज्ञान (बौद्धिक), भाव एवं क्रिया या संगतिपूर्ण समन्वय होने पर ही मूल्य-दृष्टि व नैतिक-प्रक्रिया में कोई अन्तर्विरोध नहीं रहता है। इस प्रकार की मूल्य-दृष्टि पर आधारित नैतिक-प्रक्रिया सम्पूर्ण जीवन को ही अपने में समाहित करती है। विचार अथवा चिन्तन और क्रिया दोनों ही जीवन से सम्बन्धित हैं, दैहिक मानव-जीवन के अभाव में इनकी सार्थकता प्रश्न हैं।

जीवन यदि किन्हीं मूल्यों से अनुप्रणित है तो उसके प्रत्येक पक्ष से उन्हीं मूल्यों की अनुप्रेरणाएँ प्रतिबिम्बित होनी चाहिये। कारण कि मूल्य अथवा आदर्श सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। किसी भी व्यक्ति और समाज की मूल्य-दृष्टि उसकी निष्ठा, विश्वास आस्था-उद्देश्यों को अभिव्यक्त करते हैं, उसके गुणात्मक उत्कर्ष एवं नैतिक प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। ये निष्ठा, विश्वास, आस्थाएँ एक ओर चरम-साध्यरूप में होती हैं तो दूसरी ओर साधनरूप में। अतः मूल्य-दृष्टि या मूल्य-निष्ठा तथा नैतिक-प्रक्रिया में साधन-साध्य की दृष्टि से कोई बहुत अधिक-विशेष अन्तर नहीं होता है। कभी कभी तो यह अन्तर सापेक्षिक होता है। यदि मूल्य दृष्टि की उपयोगिता नैतिक-प्रक्रिया (व्यक्ति और समाज की नैतिकता) के लिये होती है तो सभी नैतिक-प्रक्रियाएँ मूल्य-दृष्टि या मूल्य-निष्ठा की प्राप्ति हेतु आवश्यक रूप से उपयोगी होती हैं।

अर्थात् नैतिक प्रक्रियागत व्यवहार मानवीय सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत स्वीकृत मूल्य-दृष्टि का दर्पण होता है। अतः मूल्य-दृष्टि और नैतिक-प्रक्रिया - इन दोनों में आन्तरिक एवं बाह्य संगति होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि ये साध्य एवं साधन रूप में परस्पर समान रूप से प्रतिबिम्बित होते रहें।

मानव की सामाजिक व्यवस्थाएँ और आचरण उसके द्वारा केन्द्रीय प्रेरणा के रूप में मानी जाने वाली मूल्य-निष्ठाओं, विश्वासों आदि को व्यावहारिक धरातल प्रदान नहीं करते हैं या परस्पर प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं तो फिर यह स्वीकार करना होगा कि मूल्य-दृष्टि और नैतिक-प्रक्रिया अपना समग्र स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी हैं और व्यक्ति तथा समाज द्विविभाजित मूल्यों की सभ्यता और संस्कृति के आयामों को पोषित कर रहे हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि ऐसी मूल्य-दृष्टि और मूल्य-निष्ठा विभाजित, अन्मनस्क, अस्वस्थ मन पर आधारित है। ऐसी स्थिति में द्विविभाजित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या बहुविभाजित अस्वस्थ मन पर आधारित मूल्य-दृष्टियों को आधार मान कर की जाने वाली नैतिक-प्रक्रियाएँ अन्तर्विरोधी, विभक्त, अस्वस्था व्यवहार को ही विकसित करती हैं। ऐसा न हो इसलिये यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि व्यक्ति और समाज की मूल्य दृष्टि और मूल्य-निष्ठा मात्र आदर्श रूप ही नहीं है अपितु उन्हें अर्जित करने की नैतिक-प्रक्रिया भी है। और चूँकि यह अर्जित करने की नैतिक प्रक्रिया है अतः वह देश-काल से आबद्ध भी। आबद्धता को सदैव ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना संगत होता है क्योंकि आबद्धता से ही इतिहास रचा जाता है। अन्य शब्दों में यह कहना उचित होगा कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का निरूपण बिना देश-काल की आबद्धता के नहीं हो सकता है क्योंकि इतिहास सदैव देश और काल में घटित घटनाओं का ही होता है। देश और काल में घटित घटनाएँ तत्कालीन भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, मानवीय आदि कई कारणों से प्रभावित होती हैं। इनके कारण कोई अविरोध और अन्तर्विरोध विकसित होते हैं।

मानव एक चेतन सत्ता है। वह ज्ञात अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक बौद्धिक सामर्थ्य के कारण इन अन्तर्विरोधों को जानकर, समझकर यथासंभव इनके समाहार का यथासंभव प्रयत्न कर सकता है। जीवन्तता और सर्जनशीलता के गुण उसे बहुआयाम प्रदान करते हैं। इनके अभाव में मूल्य-दृष्टि मरणासन्न हो जडीभूत हो जाती है। यदि हम समग्र मूल्यों की जीवन्त मानवीय विकासोन्मुखता चाहते हैं तो युगीन परिवर्तन को स्वीकार करते हुए मूल्यों के चिन्तनात्मक-सैद्धान्तिक पक्ष और उनके आचरणात्मक-व्यावहारिक पक्ष-यथा मूल्य-दृष्टि और नैतिक प्रक्रियाओं में उत्पन्न इस विभाजन की मानसिकता से मुक्त होना होगा। यदि व्यक्ति और समाज ऐसा नहीं करते हैं तो फिर मूल्य-दृष्टि एवं नैतिक प्रक्रिया को साध्य रूप में स्वीकार करने का कोई नैतिक औचित्य नहीं होगा।

मूल्य-दृष्टि से जुडी 'नैतिक-प्रक्रिया का प्रश्न : विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण' का यह आलेख मानव के समाज व्यवहार और उनकी सैद्धान्तिक मूल्य-दृष्टि में उत्पन्न द्विभाजन अथवा कथनी और करनी के अन्तर का समाहार करने की दिशा में युगीन अवस्थाओं में सचेत होने का एक दिशासंकेत मात्र है।

डा. (सुश्री) निर्मल गर्ग

प्रवक्ता, दर्शन विभाग,
राज. जा. दे. व. महाविद्यालय,
कोटा (राजस्तान)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथसमीक्षा

-१-

दिक्-काल अंतःअनुशासनीय परिप्रेक्ष्य, डॉ. वीरेन्द्र सिंह, बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्करण २००१, पृ. १२०, मूल्य १७५/-

डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने प्रस्तुत पुस्तक में "भाषा-चिंतन में दिक्-काल", "धार्मिक अनुभव में दिक्-काल बोध", "इतिहास, मनोविज्ञान, साहित्य, विज्ञान, दर्शन," प्राणिशास्त्र तथा दर्शन आदि क्षेत्रों में दिक् और काल की अवधारणा पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने दिक्-काल पर लिखे वैज्ञानिक विवेचन को पढा है, यहाँ तक कि स्टीफन हॉकिन्स की प्रसिद्ध पुस्तक "समय का संक्षिप्त इतिहास" भी पढा है। इस कारण डॉ. सिंह की यह किताब हिंदी में "विज्ञान-दर्शन" का एक स्तरीय प्रारूप पेश कर सकी है यानी इसे पढकर जिज्ञासु दिक्-काल तथा संबंधित विषयों पर प्रस्तुत ज्ञान से प्रेरित होकर एक वस्तुगत दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह का पांडित्य मात्र ऊपरी या दिखाऊ नहीं हैं। वह जानते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में जो निरंतर प्रयोग तथा नए तथ्य आ रहे हैं या आ चुके हैं, उनमें सूक्ष्मतम परमाणुओ-कणों, गुरूत्वाकर्षणों-गतियों, विद्युत-चम्बुकीय तत्त्वों, कणों के मूल स्वरूप की स्थिति में कण और लहर (पार्टिकल एण्ड वेव) के रूपों आदि की व्याख्या में पूर्णतः वस्तुगतता को चुनौती मिली है और अनिश्चितता के सिद्धांत (अनूसरटेनिटी) से, सापेक्षतावाद की धारणाओं से जो विश्लेषण हुआ है, उससे मनोगतता से बचना कठिन हो गया है। इस संबंध में भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी, नास्तिक साम्यवादी विश्लेषक "देखो और प्रतीक्षा करो" (वेट एण्ड सी) की प्रकृति अपनाते हैं। और अनिश्चितता और सापेक्षता के सिद्धांतों के बावजूद परालौकिक या पराभौतिक सत्ताओं को नहीं मानते, विज्ञान का बौद्धिक और प्रायोगिक आधार नहीं छोडते। किंतु डॉ. वीरेन्द्र सिंह अध्यात्म और पराभौतिक आयामों के लिए गुंजायश छोड देते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि मनुष्य की चेतना के उड्डयन की सीमा नहीं है अतएव साधकों, सिद्धों रहस्यवादियों, और योगियों के अतीन्द्रिय अनुभवों और चमत्कारों का खंडन करने में संकोच करते हैं। उनका कहना है- "जागतिक दिक्-काल का स्तर एक प्रदत्त यथार्थ है जिसे नकारना या कम महत्त्व देना अनेक विसंगतियों को जन्म देता है। दूसरी ओर, परामनोवैज्ञानिक या पराजागतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(अनंत) स्तर को पूर्णतया नकार देना मानव के मनोवैज्ञानिक और चेतनात्मक रूप के प्रति ऐसी अवहेलना है जो मनस्तात्त्विक संदर्भ को ऐतिहासिक-प्रक्रम से दूर फेंकने की एक अतार्किक स्थिति हैं'' (पृ. ३२.)।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह यहाँ स्पष्ट रूप से भौतिक और पारमार्थिक ज्ञान या रहस्य-दर्शन का विरोध शांत करते दीखते हैं। इस के लिए वे अज्ञेयवाद अपना सकते थे कि जो अभी वैचारिक दृष्टि से ज्ञेय नहीं है, इस पर अभिमत को स्थगित रखा जाएँ या यह कह सकते थे कि विज्ञान अभी क्रमशः ज्ञान प्राप्त करता जा रहा है। अतः जो अभी असिद्ध है, यथा ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि को सिद्ध मांन लेने की जरुरत नहीं है। तथापि डॉ. वीरेन्द्र सिंह की यह स्थापना प्रशंसनीय है कि जगत् के आधार के बिना पराजागतिक तत्त्वों की व्याख्या संभव नहीं है, जबकि रहस्यवादी विचारक या आत्मगतवादी मानवात्मा या चैतन्य को ही मूलाधार मानते हैं तथा वे यह विश्वास करते हैं कि पराजागतिक शक्ति और आत्मसत्ता से ही पराशक्तियों का साक्षात्कार संभव है। रहस्यवादियों या साधनावादियों का यह विचार वैज्ञानिक नहीं है और उसका समर्थन वैज्ञानिक को रहस्यवादी बना देता है।

मैं बुद्धिहीन अंध-आस्था के विपरीत बौद्धिक और विवेकशील दृष्टि से डॉ. वीरेन्द्र सिंह के विज्ञानलेखन, विशेषकर 'दिक्-काल' का स्वागत करता हूँ और यह कि मैंने डॉ. सिंह के दीर्घकालीन वैज्ञानिक लेखन को देखकर उन्हें जो वैशेषिक-दर्शन के आविष्कार मुनि 'कणाद' कहा था, वह मात्र अलंकार या स्तुति या अत्युक्ति नहीं है।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने दिक्-काल में वैज्ञानिक लेखन के लिए प्रतिमानीकृत हिंदी का प्रयोग किया है और विकास भी। विदेशी, मुख्यतः अंग्रेजी के पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों के जो पर्याय दिए हैं, वे सटीक हैं। इस विषय में किसी नुक्ताचीनी की गुंजायश ही नहीं है, परंतु एक दो साधारण बातें कही जा सकती हैं जैसे अध्ययन पारंगत व्यक्तित्व भी कुछ कथन-विधियाँ पाल लेते हैं जैसे डॉ. सिंह 'लोकेट' शब्द का बार बार प्रयोग करते हैं जबकि 'चीन्हने' का प्रयोग लोकेट के लिए हो सकता है। इसी तरह 'यदि गहराई से देखा जाए' वाक्यांश का प्रयोग बार बार हुआ है। वस्तुतः यह डॉ. वीरेन्द्र सिंह की शैली या कथा-विधि को चीन्हने के लिए रोचक संदर्भ बनते हैं।

विज्ञान-दर्शन तथा विभिन्न ज्ञानानुशासनों की दृष्टि से 'दिक्-काल' पुस्तक को मूल्यवान् मानना होगा और इसकी कद्र भी करनी होगी। डॉ. वीरेन्द्र सिंह की 'दिक्-काल' पुस्तक में अधिक वस्तुगत का परिचय दिया गया है। अतः यह पुस्तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मगता और अलौकिक आस्थाओं और विश्वाओं के विरुद्ध संघर्ष में अधिक उपयोगी साबित होगी। इस दृष्टि से यह पुस्तक सर्वथा मौलिक और नया प्रयास है जो डॉ. सिंह की गहन अध्ययनवृत्ति, चिंतनशीलता और नवीन प्रस्थापनाओं का खतरा उठाने की आत्मशक्ति का परिणाम कहीं जा सकती है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

– २ –

राय एम्. एन्. (ले), आचार्य नंदकिशोर (अनु.), **विज्ञान और दर्शन**, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, १९९९, पृ. १११, मूल्य रु. ५५/-

किसी भी भाषा का विकास उस भाषा का प्रयोग करनेवाले समाज के विकास का निदर्शक होता है। भाषा और विचार की संपन्नता, संस्कृति ग संवर्धन और मूल्यों की परिष्कृति ये सभी चीजें एक दूसरे से जुडी हुई हैं । ज्ञान के क्षेत्र में भाषा का प्रयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। ज्ञानशाखाओं की वृद्धि के साथ भाषा भी समृद्ध बनानी पडती है ताकि आम आदमी को उस ज्ञान का उपयोग करने का लाभ हो। ऐसी बहुत सी ज्ञानशाखाएँ हैं जो सभी समाजों में निर्माण या विकसित नहीं होती हैं। लेकिन अगर उन्हें उस समाज की भाषा में आम आदमी के लिए उपलब्ध कराया जाए तो समाज का विकास एवं संवर्धन होता है। इस दृष्टि से अनूदित कृतियाँ महत्त्व रखती हैं। हरेक भाषा में विश्व की श्रेष्ठ रचनाओं के उपलब्ध होने से उस भाषा का और वह भाषा बोलनेवालों का उन्नयन होता है। प्रस्तुत पुस्तक डॉ. मानवेंद्र नाथ राय की मूल अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है, जिस ने हिंदी भाषिकों के लिए एक श्रेष्ठ रचना उपलब्ध करायी है ।

प्रस्तुत पुस्तक **विज्ञान और दर्शन** प्रायः दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक श्रेष्ठ रचना के अनुवाद के कारण हिंदी भाषा के लिए यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पुस्तक की शैली अत्यंत सरल एवं प्रासादिक है, जिसे पढकर ऐसा नहीं लगता कि यह अनूदित कृति हो। पुस्तक का विषय मूलतः क्लिष्ट एवं कठिन होने के बावजूद मँजी हुई भाषा के कारण प्रवाह में अटकाव नहीं पैदा होता। भाषा सरल है लेकिन विषयानुरूप परिष्कृत होने के कारण बोलचाल की भाषा की तरह सीदी-सादी नहीं है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विषयों पर लिखने के लिए अंग्रेजी भाषा विद्वानों को हमेशा सुलभ प्रतीत हुई है। लेकिन अंग्रेजी की तरह हिंदी भाषा में वही विचार सुगठितरूप से प्रस्तुत किया जा सकता है इस का एक अच्छा नमूना इस पुस्तक के रूप में सामने आया है। उदाहरण के लिए यह वाक्य देखें, ''प्रयोगविधियों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिष्करण ने उन संवर्गों को भी भौतिक शोध की परिधि में ला दिया है जिन्हें पहले पराभौतिक समझे जाने के कारण विशुद्ध विचार अर्थात् आनुमानिक चिंतन का विषय माना जाता था।'' (पृ. ४१) इस तरह की भाषा का प्रयोग ऐसी प्रतीति देता है कि मानो यह विचार मूल हिंदी भाषा में ही प्रस्तुत किया हो; जैसे, ''...व्यष्टि रूप में आत्मा और समष्टिरूप में ईश्वर नव-जैवशक्तिवाद के प्रस्थान-बिंदु हैं।'' (पृ. ८५) इस विषय को और मूल अंग्रेजी को ऐसी सहज हिंदी में प्रस्तुत करने से हिंदी भाषा की सामर्थ्य उभरकर सामने आती है, जिस से हौसला बढ सकता है कि ऐसे विषय हिंदी भाषा में प्रस्तुत करना असंभव या कठिन भी नहीं है।

डॉ. मानवेंद्रनाथ राय की मूल पुस्तक पचास से अधिक साल पुरानी होने के बावजूद उस में प्रस्तुत चिंतन आज भी विचारार्ह एवं प्रेरणादायी है। विज्ञान और दर्शन की समस्याओं पर समन्वित चिंतन करने की प्रवृत्ति और भी अधिक बढनी चाहिए। इस दृष्टि से इस पुस्तक का हिंदी में प्रकाशित होता समयोचित है। अनुवादक एवं प्रकाशक इस पुस्तक के लिए प्रशंसापात्र हैं।

सुभाषचन्द्र भेलके

– ३ –

शर्मा राधेश्याम (सं.) **साहित्य, संस्कृति और अन्य विधाएँ**, राजस्तान साहित्य अकादमी, उदयपुर, १९९७, पृ. १३०, मूल्य रु. ९०।

आजकल आंतरशाखीय ज्ञानचिंतन की विधा विशेष प्रतिष्ठित हो रही है। लेकिन साहित्य का ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से संबंध विवेचित करने का प्रयास नया नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में सात मूर्धन्य चिंतकों के लेखों को संपादित किया है। ये सभी लेख साहित्य को केंद्र में रखते हैं और हरेक विद्वान् अपनी विशेषज्ञता के अनुकूल सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, संस्कृति, इतिहास, दर्शन, विज्ञान तथा मनोविज्ञान इन ज्ञानशाखाओं को साहित्य के संदर्भ में अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं।

इस पुस्तक के पहले लेख के लेखक डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर जानेमाने समीक्षक हैं और इसीलिए आलोचना के पक्ष को लेकर सौंदर्यशास्त्र की उन समस्याओं का विश्लेषण करते जाते हैं जिनका सरोकार किसी रचना के आस्वादन से जुडा है। कांट को लेकर सौंदर्यानुभव को स्पष्ट करते हुए वे रसानुभूति के बारे में भी कहते हैं। लेकिन कांट के सिद्धान्तों की चुनौतियों के बारे में भी वे सजग हैं। उन्हें सौंदर्यानुभूति को जीवन से जोडकर देखना है। उन का कहना कि सौंदर्य के साथ हमें 'शक्ति' को जोडना है, महत्त्वपूर्ण बात उठाता है। सुश्री डॉ. निर्मला जैन बताती हैं कि साहित्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और समाजशास्त्र में पूरे तौर पर भेद नहीं है। क्योंकि साहित्य में सभी तरह की सामाजिक गतिविधियों का चित्रण उतरता है। इस संदर्भ में वे सवाल उठाती हैं कि साहित्य वस्तुतः किस का प्रतिबिंब है ? इसे लेकर चर्चा करते हुए वे मार्क्सवादी साहित्य की असफलता को भी दर्शाती हैं। डॉ. गोविंदचंद्र पांडे अपने लेख में साहित्य और संस्कृति का संबंध दर्शाते हुए साहित्यकार की सनातनता और सत्य, शिव जैसे मूल्यों के प्रति होनेवाला आकर्षण दिखाते हुए संस्कृति की भूमिका स्पष्ट करते हैं। साहित्य का इतिहास से संबंध बताते हुए प्रो. लल्लनजी गोपाल कहते हैं कि बहुत सारे विषयों को इतिहास में सप्रयास लाना पडता है, लेकिन साहित्य में वे अनायास आते हैं। साहित्य में इतिहास किस तरह योगदान देता है इस बात को वे स्पष्ट करते हैं।

विख्यात दार्शनिक प्रो. दयाकृष्ण साहित्य और दर्शन के बीच जो मौलिक भेद है उसे लेकर उनका अंतर दर्शाते हुए उनके आंतरिक मेल को बखूबी स्पष्ट करते हैं। दोनों का आधार भाषा है। दोनों मानवीय सृजन हैं, लेकिन भावना तथा बुद्धि की भूमिका दोनों में भिन्न है। सत्य के बारे में भी दोनों की दृष्टियाँ भिन्न हैं। साहित्य और दर्शन जिस चेतना का सृजन है उसी चेतना के कुछ विशेष आयामों से वे जुडे भी हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रो. दयाकृष्ण न केवल दोनों की सीमाएँ आँकते हैं बल्कि उनकी सामर्थ्य भी दिखाते हैं। अंत में विज्ञानबोध पर डॉ. वीरेंद्रसिंह का और मनोविज्ञान से संबंधित डॉ. गिरीश्वर मिश्र के लेख साहित्य के उन पहलुओं को प्रकाशित करते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टियों से विचारणीय है।

इस पुस्तक के सभी लेख विचारों की गरिमा से भरे हुए और सुबोध शैली से लिखे हुएं हैं। यह पुस्तक केवल साहित्यशास्त्र में रुचि रखनेवालों के लिए ही उपयुक्त न होकर दर्शन तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं के अध्येताओं के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परांमर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)   खण्ड २३ अंक १   दि.-ज.-फ.२००२

		संपादकीय	१
काली चरण पाण्डेय	:	फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस	३
डा. मनोहर दाते	:	मानव चेतना का स्वरूप	१९
अशोक कुमार शिल्पकार	:	शंकर और रामानुज का मायावाद : एक तुलनात्मक अनुशीलन	२५
डा. नागेन्द्र तिवारी	:	मीमांसा दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास	३५
डा. सुरेन्द्र सिंह नैगी	:	भारतीय दार्शनिक चिन्तन में तर्क की अवधारणा	४१
प्रो. मणि शर्मा एवं रूपाली श्रीवास्तव	:	भारतीय चिन्तन में देह की अवधारणा - एक दृष्टि	५३
कुमार अनेकान्त जैन	:	जैन दर्शन में नैगमनय और उसका विकास	५७
डा. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे	:	वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी जैन दृष्टि (जैन-पुराणों के सन्दर्भ में)	७१
सर्वनारायण मिश्र	:	गीता में मनोविश्लेषण के तत्त्व	७५
डा. (सुश्री) निर्मल गर्ग	:	मूल्य-दृष्टि से जुडी नैतिक-प्रक्रिया का प्रश्न : विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण	८९
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	:	ग्रंथसमीक्षा	९२
सुभाषचन्द्र भेलके	:	ग्रंथसमीक्षा	९४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.